नई दिल्ली
रविवार, 17 मई, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-30 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might — Jawaharlal Nehru

विनेश फोगाट के साथ किए जा रहे बरताव से ही सरकार का खेलों के प्रति रवैया समझ में आता है 3
आखिर ऑपरेशन सिंदूर से हमें हासिल क्या हुआ? 4

ज़ायकों की असली दुनिया 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

जैविक खेती की ओर रुख करना आसान काम नहीं

फोटो: गेटी इमेजेज

जयदीप हार्दिकर

पांच राज्यों में विधानसभा चुनाव निबट जाने और असम तथा पश्चिम बंगाल में भाजपा की जीत सुनिश्चित हो जाने के बाद, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने फैसला किया कि अब भारतीयों को पश्चिम एशिया में चल रहे युद्ध से उत्पन्न होने वाले मूल्य झटकों और अन्य संकटों के लिए तैयार रहने को कहने का समय आ गया है। हमेशा की तरह, उन्होंने त्याग का भार नागरिकों पर डाला – सोना न खरीदें, तेल का कम इस्तेमाल करें, घर से काम करें... और फिर वही जुमले – अनुशासन, संयम और देश के लिए क़ुर्बानी।

उन्होंने किसानों के लिए भी एक सुझाव दियाः '50 प्रतिशत जैविक खेती की ओर बढ़ना'। लेकिन क्या यह बदलाव इतना आसान है?

रासायनिक खेती से जैविक – या टिकाऊ (सस्टेनेब्ल)– खेती की ओर बदलाव में लगभग सात से दस साल लगते हैं। इस लेखक ने देश भर के हजारों किसानों से बातचीत में पाया है कि यह बदलाव कई बड़े झटकों और जोखिमों के साथ आता है – उत्पादन में अचानक गिरावट, मजदूरी में वृद्धि, कीटों का हमला, अनिश्चित संसाधन...

आम सहमति यह है कि उत्पादकता समय के साथ स्थिर हो जाती है, लेकिन बदलाव के लिए निरंतर मार्गदर्शन और ऐसी सेवाओं की जरूरत होती है जो आम तौर पर बाजार में उपलब्ध नहीं होती हैं। भारत में विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में जैविक खेती की लगभग 400 परिभाषाएं मौजूद हैं, फिर भी कृषि वैज्ञानिक समुदाय ने इसे उत्पादन प्रणाली के रूप में अभी तक नहीं अपनाया है।

कुल मिलाकर, जैविक खेती देश में सामुदायिक संगठनों, गैरसरकारी संगठनों, और कुछ मामलों में, अत्यधिक प्रेरित व्यक्तिगत किसानों के माध्यम से फैली है, न कि सार्वजनिक संस्थानों या विश्वविद्यालयों के जरिये।

पहली नजर में, जैविक खेती की ओर बड़े बदलाव का मोदी का प्रस्ताव पर्यावरण की दृष्टि से दूरदर्शी लगता है। भारत का कृषि संकट वास्तविक है – किसान लगभग पिछले तीन दशकों से इससे जूझ रहे हैं। दशकों से रसायनों के अत्यधिक उपयोग ने मिट्टी और भूजल को बुरी तरह से दूषित कर दिया है, जैव विविधता को कम किया है और किसानों को महंगी, संसाधन-प्रधान कृषि प्रणालियों में फंसा दिया है। कुछ गंभीर पर्यावरणविद टिकाऊ कृषि पद्धतियों की तत्काल जरूरत से इनकार नहीं करेंगे।

दरअसल, ऑर्गेनिक कृषि अनुसंधान संस्थान (एफआईबीएल) और इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ ऑर्गेनिक एग्रीकल्चर मूवमेंट्स (आईएफओएएम) ऑर्गेनिक्स इंटरनेशनल की नवीनतम 2026 रिपोर्ट से पता चलता है कि जैविक कृषि 180 से अधिक देशों में लगभग 99 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र में फैली हुई है, जिसमें 4.8 मिलियन उत्पादक शामिल हैं। वैश्विक जैविक खाद्य बाजार लगभग 145 अरब यूरो तक बढ़ गया है। भारत की 40 लाख हेक्टेयर भूमि के साथ प्रमाणित जैविक किसानों की संख्या दुनिया में सबसे अधिक एक है, हालांकि ऑस्ट्रेलिया में ऐसी 530 लाख हेक्टेयर भूमि है जहां जैविक खेती हो रही है।

रिपोर्ट में उन किसानों को शामिल नहीं किया गया है जो जैविक खेती तो करते हैं, लेकिन प्रमाणित नहीं हैं। उदाहरण के लिए, भारत में लाखों किसान घरेलू खपत के लिए प्रमाणीकरण प्रक्रिया के रूप में सहभागी गारंटी प्रणाली का उपयोग करते हैं, इसके अतिरिक्त निर्यात के लिए आम तौर पर तीसरे पक्ष द्वारा प्रमाणीकरण की जरूरत होती है।

भारत, और दुनिया भर में, जैविक खेती समग्र उत्पादन प्रणाली का छोटा-सा हिस्सा है, लेकिन यह बढ़ रही है। उदाहरण के लिए, भारत जैविक कपास के उत्पादन में अग्रणी है। बाजरा के मामले में भी यही स्थिति है। आदिवासी और पिछड़े क्षेत्रों के लाखों छोटे किसान कम रसायनों का उपयोग करते हैं और वास्तव में जैविक खेती करते हैं, लेकिन उन्हें किसी भी महंगी और जटिल प्रमाणन प्रणाली द्वारा प्रमाणित नहीं किया गया है।

लेकिन पहले और दूसरे बिंदु के बीच अंतर पर ध्यान दें। ऑस्ट्रेलिया का दृष्टिकोण व्यवस्थित है, भारत का नहीं। हमारी समस्या नीति है - या कहें कि नीति का अभाव है। किसान रसायनों से छुटकारा पाना चाहते हैं, उन्हें उपदेश देने की जरूरत नहीं है। वे इसके लिए व्यवस्थित नीतिगत समर्थन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हैदराबाद स्थित सेंटर फॉर सस्टेनेबल एग्रीकल्चर (सीएसए) के जी.वी. रामानजनेयुलु सतत कृषि पद्धतियों के प्रबल समर्थकों में से एक हैं। वह कहते हैं कि 'किसानों ने पिछले 20 वर्षों में अपनी आय बढ़ाने और सतत कृषि पद्धतियों को अपनाने की हरसंभव कोशिश की है।' उन्होंने अपनी फसल संबंधी विकल्पों में बदलाव किए हैं, जैविक खेती सीखी है, समय और धन लगाया है और इस बदलाव के दौरान आने वाले जोखिमों को भी सहा है।

> किसान रसायनों से छुटकारा पाना चाहते हैं, उन्हें उपदेश देने की कोई जरूरत नहीं है। वे बस इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए व्यवस्थित नीतिगत मदद की प्रतीक्षा कर रहे हैं

सार्वजनिक संस्थानों और प्रणालियों के आधुनिक, यानी औद्योगीकृत खेती पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण, कमजोर जैविक किसान अत्यधिक अस्थिर बाजारों में प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते हैं।

रामानजनेयुलु कहते हैं कि 'भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) और कृषि विश्वविद्यालयों को जैविक खेती अनुसंधान और रणनीति को संस्थागत रूप देने के लिए कहा जाना चाहिए। नीति को उन किसानों का समर्थन करना चाहिए जो गैर-रासायनिक कृषि उत्पादन प्रणालियों का अभ्यास कर रहे हैं।'

पिछले 25 वर्षों में, सीएसए ने तेलंगाना और आंध्र प्रदेश में अपने सहकारी समितियों और किसान उत्पाद कंपनियों के तहत किसानों को लगातार संगठित किया है, जिससे उन्हें रासायनिक कीटनाशकों से जैविक या एकीकृत कीटनाशक प्रबंधन प्रणालियों में बदलने में मदद मिली है, जो कि इसके अपने ब्रांड सहज आहारम के तहत है।

फिर भी, चुनौतियां बनी हुई हैंः लाभकारी मूल्य, बाजारों तक पहुंच, गुणवत्तापूर्ण इनपुट, ज्ञान संबंधी सहायता इत्यादि। रामानजनेयुलु का कहना है कि जैविक खेती अपनाने वाले किसानों को समर्थन देने के लिए नीति में कोई बदलाव नहीं आया है – कीमतें, ऋण प्रवाह, इनपुट बाजार स्थिर बने हुए हैं और जैविक खेती के विज्ञान को अभी तक संस्थागत रूप नहीं दिया गया है।

वह कहते हैं कि 'रासायनिक कृषि प्रणालियों के सभी आधार मौजूद हैं – सार्वजनिक संस्थान इसे बढ़ावा देते हैं, बैंक और वित्तीय संस्थान इसमें मदद देते हैं, और बाजार इसे अपना लेते हैं।' किसानों को एक से दूसरी प्रणाली में बदलने के लिए भी इसी तरह के आधारों की जरूरत होती है। वह पूछते हैं कि 'ये कौन उपलब्ध कराएगा? इस बदलाव के लिए किस प्रकार की ज्ञान प्रणालियों की आवश्यकता है? ये महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिनके लिए सरकार के समर्थन और रणनीति की जरूरत है।'

किसी के कहने भर से कोई किसान जैविक खेती नहीं अपना सकता या रसायनों का उपयोग बंद नहीं कर सकता। प्रधानमंत्री को किसानों को नैतिक दायित्व का एहसास कराने और परिवर्तन का भार उठाने के लिए कहने से पहले, नीति और व्यवस्था लागू करनी होगी।

प्रधानमंत्री (और उनके मंत्रिमंडल) को इनमें से कुछ सवालों के जवाब देने होंगे ताकि किसान उनके उपदेशों पर अमल कर सकें। बदलाव की समय-सीमा क्या है? खरीद प्रक्रिया किन ढांचों के तहत होगी? विस्तार प्रणालियों के जरिये क्या होगा? किस प्रकार की वित्तीय सहायता मिलेगी? परिवर्तन के दौरान उपज में होने वाले नुकसान की भरपाई कैसे की जाएगी? प्रमाणन का प्रबंधन कैसे किया जाएगा? भारी कर्ज में डूबे छोटे किसानों का क्या होगा? बदलाव की अवधि में कम उत्पादन की भरपाई राज्य सरकारें कैसे करेंगी? प्रयोग का आर्थिक जोखिम कौन उठाएगा? ये तकनीकी विवरण नहीं हैं। ये दिखावे और क्रियान्वयन के बीच का अंतर हैं।

*

सबक सीखने के लिए, श्रीलंका से बेहतर उदाहरण और कोई नहीं है। 2021 में, श्रीलंका सरकार ने रासायनिक उर्वरकों के आयात पर अचानक प्रतिबंध लगा दिया और देश को जैविक खेती की ओर अग्रसर किया। इस फैसले को पर्यावरण संबंधी शब्दावली और राष्ट्रीय गौरव के ढर्रे पर पेश किया गया। लेकिन इसके परिणाम विनाशकारी रहे। फसलों की पैदावार में भारी गिरावट आई। चाय उत्पादन को भारी नुकसान हुआ। खाद्य पदार्थों की कमी चरम पर पहुंच गई। महंगाई बेतहाशा बढ़ गई। ग्रामीण क्षेत्रों में संकट गहरा गया।

श्रीलंका में जैविक खेती के प्रयोग से यह सबक नहीं मिलता कि यह असंभव या अवांछनीय है। बल्कि, यह कि कृषि पद्धतियों को रातोंरात सरकारी आदेश से नहीं बदला जा सकता। इन बदलावों के लिए वर्षों की तैयारी, वैज्ञानिक योजना, किसानों से परामर्श, बाजार का पुनर्गठन, परिवर्तनकालीन वित्तपोषण और स्थानीय पारिस्थितिक वास्तविकताओं के अनुरूप विकेन्द्रीकृत अनुकूलन की जरूरत होती है। भारत में कई संगठनों ने इस दिशा में प्रारंभिक कार्य किया है। हम उनके अनुभवों से सीख सकते हैं। सिक्किम ने पूरी तरह से जैविक मॉडल अपनाया, लेकिन राज्य के किसानों को आर्थिक रूप से लाभ नहीं हुआ।

पारिस्थितिकीय परिवर्तन अत्यंत जटिल प्रक्रियाएं हैं जिन्हें मंचों से दिए जाने वाले नैतिक उपदेशों तक सीमित नहीं किया जा सकता। कृषि कोई रंगमंच नहीं है। मृदा (स्वॉयल) प्रणालियां नारों का पालन नहीं करतीं।

युद्धों से तेल आपूर्ति बाधित होती है, मुद्रास्फीति बढ़ती है, मुद्राएं कमजोर होती हैं, बाजारों में अनिश्चितता फैलती है। ऐसे में सावधानी, संयम, यहां तक कि मितव्ययिता भी जरूरी हो सकती है। लेकिन लोकतांत्रिक नेतृत्व को राजनीतिक दिखावे से अलग करने वाली बात यह है कि क्या बलिदान समान रूप से साझा किया जाता है या चुनिंदा रूप से थोपा जाता है?

अब तक हम जान चुके हैं कि इस शासन को समझने का सबसे विश्वसनीय तरीका यह नहीं है कि हम उसकी बातें सुनें, बल्कि यह है कि हम उसके काम देखें। एक दशक से अधिक समय से, भारत में संरचनात्मक संकटों को बार-बार नागरिकों के लिए नैतिक दायित्वों में तब्दील किया गया है। 2016 की नोटबंदी और 2020 की कोविड-19 महामारी के दौरान प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए आह्वान को याद कीजिए। अब, भू-राजनीतिक अस्थिरता को सतत कृषि, जीवाश्म ईंधन पर निर्भरता, संसाधन संरक्षण और पारिस्थितिक सुधार जैसे गंभीर राष्ट्रीय मुद्दों पर चर्चा करने के बजाय, मितव्ययिता पर एक और उपदेश में तब्दील किया जा रहा है। यह जिम्मेदारी पहले से ही कमजोर नागरिकों पर नहीं डाली जा सकती। ■

जयदीप हार्दिकर नागपुर निवासी वरिष्ठ पत्रकार और 'रामरावः द स्टोरी ऑफ इंडियाज फार्म क्राइसिस' पुस्तक के लेखक हैं

प्रिय प्रधानमंत्री जी,

जिस त्याग की आप मांग कर रहे, उसका बोझ किस पर?

अजित रानाडे

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने हाल ही में ईंधन, सोना, उर्वरक, खाना पकाने का तेल, सोलर पंप और विदेश यात्रा वगैरह 11 मदों में लोगों से हाथ रोकने की अपील की। तमाम लोग इसे दाम बढ़ाने के पूर्व संकेत की तरह ले रहे हैं। इसके पीछे बड़ा मकसद हैः विदेशी मुद्रा बचाने को आंदोलन बनाना। यह ऐसा जनअभियान है जो तरीके में बेशक महात्मा गांधी के 1930 के 'नमक मार्च' जैसा न हो, लेकिन जज्बे में वैसा ही है।

गांधी की खासियत थी कि उन्होंने नमक को चुना- जो रोजमर्रा की चीज है, लेकिन प्रतीकात्मक रूप से बेहद ताकतवर- और इसके जरिये उन्होंने आर्थिक आत्मनिर्भरता की बात की और इसे जन-आंदोलन बनाया। मोदी का नजरिया है कि हर भारतीय देश की आर्थिक मजबूती में निजी तौर पर जुड़ा महसूस करे और विदेशी मुद्रा बचाना एक देशभक्ति वाला काम बन जाए।

इस सोच की तारीफ होनी चाहिए। भारत की कच्चे तेल, उर्वरक, सोने और खाने के तेल के आयात पर निर्भरता ऐसी कमजोरी है, जिसे मानते तो सभी हैं, लेकिन अब तक ठोस उपाय नहीं हुए। 1965 में लाल बहादुर शास्त्री ने भी खाने के मामले में कुछ ऐसा ही किया था; जब देश युद्ध और खाने के संकट से जूझ रहा था। तब शास्त्री जी ने सोमवार की शाम को उपवास की अपील की थी। समाजवादी मधु लिमये ने संसद में तर्क दिया था कि जब देश किसी संकट से गुजर रहा हो, तो स्वेच्छा से सादगी अपनाना हर नागरिक का संवैधानिक कर्तव्य है; और यह कि राजनेताओं को उपदेश देने के बजाय खुद उदाहरण बनकर सामने आना चाहिए।

आर्थिक संकट के समय नागरिक एकजुटता की अपील सम्मानजनक है, और पहले भी कारगर रही है। लेकिन जनता के बीच गहरी पैठ के अलावा, गांधीजी के नमक सत्याग्रह आंदोलन को नैतिक शक्ति इससे मिली थी कि नमक कर बेहद अन्यायपूर्ण और गरीबों के लिए नुकसानदेह था। गांधीजी ने इसी वजह से नमक को चुना। दूसरी ओर, विदेशी मुद्रा बचाने का आंदोलन किसी अन्याय के खिलाफ नहीं, बल्कि यह खुद ही गरीबों के लिए नुकसानदेह है। क्योंकि यह न्यूनतम संसाधन वालों से तकलीफ का सबसे ज्यादा बोझ उठाने की अपेक्षा करता है।

इन ग्यारह अनुरोधों को इस नजरिये से देखें। विदेश में छुट्टियां मनाने या डेस्टिनेशन वेडिंग को टालने की बात अमीर ही सोच सकते हैं। इलेक्ट्रिक गाड़ी लेने का मतलब है कि आपके पास उसे खरीदने के पैसे थे। 'वर्क-फ्रॉम-होम' का विकल्प सिर्फ ऑफिस में काम करने वाले प्रोफेशनल के लिए है, न कि दिहाड़ी पर काम करने वालों के लिए। खाने के तेल का इस्तेमाल कम करने का सबसे ज्यादा असर उन लोगों पर पड़ता है जिनके पास पहले से ही बहुत कम है, क्योंकि यह कोई विलासिता की चीज नहीं। इनमें से कुछ अनुरोध तो अमीरों को ध्यान में रखकर किए गए हैं; लेकिन कुछ अनुरोध अनजाने में ही उनसे उम्मीद करते हैं जिनके पास गुजारे के बहुत कम साधन हैं, वे त्याग का बड़ा हिस्सा उठाएं।

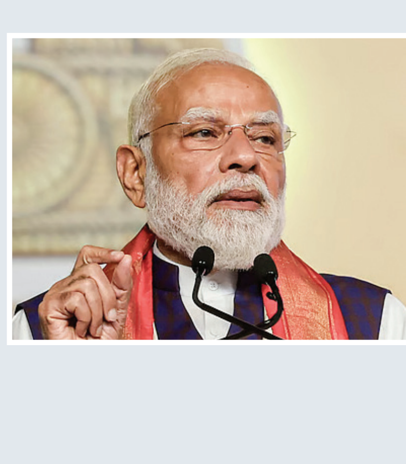

> भारत को विदेशी मुद्रा बचाने के लिए 'सत्याग्रह' करना है, तो इसमें बोझ बांटने की सोच होनी चाहिए, नियमों को लागू करने में सख्ती होनी चाहिए, समस्याओं के समाधान में ढांचागत सुधार होना चाहिए

तीन सरकारी तेल मार्केटिंग कंपनियों को रोजाना 1,600-1,700 करोड़ रुपये का नुकसान हो रहा है, और पिछले दस हफ्तों में उनका नुकसान 1 लाख करोड़ रुपये को पार कर गया है। पेट्रोल पर मार्जिन 14 रुपये प्रति लीटर और डीजल पर 18 रुपये प्रति लीटर नेगेटिव है। इसकी भरपाई के लिए एक्साइज ड्यूटी में की गई कटौती से सरकारी खजाने को हर महीने 14,000 करोड़ रुपये का नुकसान हो रहा है। खाद सब्सिडी में 35,000-50,000 करोड़ रुपये के अतिरिक्त खर्चे का अनुमान है। यह संकट तब आया है जब राजकोषीय स्थिति पहले ही दबाव में हैः वित्त वर्ष 26 में, प्रत्यक्ष कर से कमाई संशोधित अनुमानों से 80,594 करोड़ रुपये कम रही। वित्त वर्ष 27 के लिए प्रत्यक्ष कर का लक्ष्य 26.97 लाख करोड़ रुपये है, जो 26 की वास्तविक कमाई से 15 फीसद ज्यादा है। लेकिन कमाई की रफ्तार पहले ही धीमी पड़ रही है।

मोदी की अपील में एक बुनियादी विरोधाभास है। उनकी कुछ मांगें-जैसे सोने का आयात और विदेश यात्रा कम करना-सचमुच घरेलू उत्पादन को नुकसान पहुंचाए बिना चालू खाते को बेहतर बनाने में मदद करेंगी। लेकिन ईंधन की कीमतों में बढ़ोतरी का मामला बिल्कुल अलग हैः इससे महंगाई बढ़ती है, सभी परिवारों की वास्तविक आय घटती है, और यह भारतीय रिजर्व बैंक को दुविधा में डाल देगा-उसे रुपये को बचाने और आर्थिक विकास को बनाए रखने के बीच किसी एक को चुनना पड़ेगा। इसके अलावा, सरकार के रवैये में एक असंतुलन भी हैः वह एक तरफ तो कीमतें घटाने की कोशिश कर रही है, वहीं लोगों से उम्मीद कर रही है कि वे ऐसा बर्ताव करें, मानो कीमतें बहुत ज्यादा हों।

आयकर विभाग की 2026–27 के लिए केन्द्रीय कार्ययोजना में फील्ड अधिकारियों को निर्देश दिया गया है कि वे अपील में सही ठहराई गई 2.57 लाख करोड़ रुपये की टैक्स मांगों की वसूली को प्राथमिकता दें, पैन के हिसाब से टॉप 10,000 डिफॉल्टरों पर नजर रखें, और जुलाई तक 7.88 लाख करोड़ रुपये के बड़े, बिना क्लासिफाइड बकाये को क्लासिफाई करें। नहीं वसूली गई रकम का पैमाना चौंकाने वाला हैः 9 लाख करोड़ रुपये से ज्यादा की बिना विवाद वाली टैक्स मांगें बकाया हैं, जिनमें से ज्यादातर मुंबई (1.65 लाख करोड़ रुपये) और दिल्ली (1.21 लाख करोड़ रुपये) में हैं। वित्त वर्ष 26 में, 5.04 लाख करोड़ रुपये के लक्ष्य के मुकाबले, असल वसूली सिर्फ 85,000 करोड़ रुपये थी।

सरकार परिवारों से भरोसे के साथ नहीं कह सकती कि वे खाना पकाने के तेल की खपत कम करें, जबकि बड़े कॉरपोरेट और व्यक्तिगत डिफॉल्टरों से 9 लाख करोड़ रुपये का टैक्स बकाया बिना वसूले पड़ा रहता है। यह सुनिश्चित करना कि टैक्स वसूल किए जाएं- चाहे इसके लिए किसी भी तरह की डिजिटल निगरानी का इस्तेमाल करना पड़े- एक जबरदस्त संकेत होगा और प्रधानमंत्री की देश से 'बलिदान' की अपील को कुछ विश्वसनीयता प्रदान करेगा।

शेष पेज 2 पर ▸

जिस त्याग की मांग कर रहे, उसका बोझ किस पर?

जिस दिन प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने आम लोगों से त्याग की अपील की, उसके अगले ही दिन भोपाल में भाजपा नेता सौभाग्य सिंह ठाकुर ने वाहनों का काफिला निकालकर शक्ति प्रदर्शन किया

पेज एक का शेष

यह टैक्स व्यवस्था पर पुनःविचार का भी मौका है। क्या यह संरचना के हिसाब से प्रगतिशील है? भारत ने 2015 में वेल्थ टैक्स खत्म किया और 1985 के बाद से कोई एस्टेट या विरासत शुल्क नहीं लगाया गया।

भारत के सबसे अमीर 1% लोगों के पास देश की अनुमानित 40% दौलत है। बहुत ज्यादा आय पर एक अस्थायी क्राइसिस सरचार्ज, या इस उथल-पुथल से फायदा उठाने वाली संस्थाओं- जैसे कमोडिटी ट्रेडर, घरेलू रिफाइनर - पर एक विंडफॉल लेवी, या फिर वेल्थ टैक्स कई मकसद पूरे करेगाः राजकोषीय घाटे की भरपाई के लिए रेवेन्यू जुटाना, बोझ को बराबरी से बांटना, और जन-आंदोलन को वह नैतिक आधार देना जिसकी उसे जरूरत है। मधु लिमये का तर्क ठीक यही थाः बिना बराबरी के सादगी देशभक्ति नहीं, बल्कि यह तो तकलीफ को ऊपर से नीचे की ओर धकेलना है।

हमें अपनी सहन-शक्ति और जोखिम-सुरक्षा उपायों की भी समीक्षा करनी होगी। अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेंसी के सदस्य देश एक संधि-दायित्व के तौर पर नब्बे दिनों का रणनीतिक पेट्रोलियम भंडार रखते हैं।

यूरोप ने आपातकालीन गति से एलएनजी आयात टर्मिनल बनाए और आपूर्ति के स्रोतों में विविधता लाई। जापान और दक्षिण कोरिया कीमतों में होने वाले बदलावों के संकेतों को तेजी से अपनाते हैं और वित्तीय बाजारों के जरिये अपने जोखिम को सुरक्षित करते हैं। भारत का रणनीतिक भंडार लगभग नौ से दस दिनों का है। भारत के पास कोई संस्थागत सुरक्षा-भंडार नहीं। यही कारण है कि इस स्थिति से निपटने के लिए, न के बराबर मौजूदा भंडार को इस्तेमाल करने के बजाय, लोगों से स्वेच्छा से संयम बरतने की अपील करना ही विकल्प बचता है।

मोदी की विदेशी मुद्रा बचाने की अपील तब बेअसर साबित होगी, जब एक तरफ चुपके से ईंधन के दाम बढ़ाए जाएंगे, वहीं दूसरी तरफ अमीर बकायेदारों से वसूली नहीं हो सकेगी, और गरीबों के लिए खाना पकाने का तेल और भी महंगा हो जाएगा। गांधी के आंदोलन इसलिए सफल हुए, क्योंकि वे नैतिक रूप से बेदाग थे। अगर भारत को विदेशी मुद्रा बचाने के लिए 'सत्याग्रह' करना है, तो इसकी रूपरेखा भी इसके लक्ष्य के अनुरूप ही होनी चाहिए। इसमें बोझ बांटने की सोच होनी चाहिए, नियमों को लागू करने में सख्ती होनी चाहिए, समस्याओं के समाधान में ढांचागत सुधार होना चाहिए, और उन 'कीमतों के संकेतों' को लेकर पूरी ईमानदारी होनी चाहिए, जिनकी जगह अंततः कोई भी स्वैच्छिक संयम नहीं ले सकता। ■

अजित रानाडे जाने-माने अर्थशास्त्री हैं।
सौजन्य: द बिलियन प्रेस

उलटी पड़ गई मान की चाल

हरजिंदर

पंजाब के मुख्यमंत्री भगवंत मान को लगा था कि यह उनका मास्टरस्ट्रोक साबित होगा। बैसाखी के दिन, 13 अप्रैल को, मान ने विधानसभा का विशेष सत्र बुलाया। एकमात्र एजेंडा था- 'जागत जोत श्री गुरु ग्रंथ साहिब सत्कार (संशोधन) विधेयक, 2026' पारित करना। यह विधेयक गुरु ग्रंथ साहिब के विरुद्ध होने वाली बेअदबी की घटनाओं के लिए कहीं अधिक कठोर दंड का प्रावधान करता है। यह संशोधन 2008 के उस कानून का विस्तार है, जो मुख्यतः गुरु ग्रंथ साहिब की छपाई और उसके रख-रखाव को नियंत्रित करता था।

पंजाब में बेअदबी का मुद्दा बेहद भावनात्मक है। सिख धर्म के सबसे पवित्र दिनों में से एक पर मान ने खुद को ऐसे नेता के रूप में स्थापित करने की कोशिश की, जिसने वह कर दिखाया जो पिछली सरकारें केवल वादा करती रहीं।

नए कानून में न्यूनतम 10 साल के आजीवन कारावास तक की सजा का प्रावधान है। 5 लाख से 25 लाख रुपये तक के जुर्माने का प्रावधान भी है। अपराध को संज्ञेय और गैर-जमानती बनाया गया है और साजिशकर्ता की संपत्ति जब्त करने का अधिकार भी प्रशासन को दिया गया है।

पंजाब में कोई भी राजनीतिक दल ऐसे कानून का विरोध करने की स्थिति में नहीं था। किसी ने विरोध किया भी नहीं। विधेयक आम आदमी पार्टी, कांग्रेस, अकाली दल और भाजपा सभी के समर्थन से पारित हो गया। राज्यपाल गुलाब चंद कटारिया ने भी तुरंत अपनी मंजूरी दे दी।

लेकिन यह जश्न मुश्किल से 24 घंटे ही टिक पाया। विपक्षी दलों ने खुद को इससे अलग करना शुरू कर दिया। उन्होंने कानून के उद्देश्य और इसे जल्दबाजी में पारित किए जाने पर सवाल उठाए। विपक्षी नेताओं ने आरोप लगाया कि विधायकों को कानून की प्रतियां पहले से उपलब्ध नहीं कराई गई थीं। सिखों की सर्वोच्च संस्था अकाल तख्त ने भी हमला तेज कर दिया। जत्थेदार ज्ञानी कुलदीप सिंह गरगज्ज ने कहा कि विधेयक का मसौदा 11 अप्रैल की रात तक तैयार किया जा रहा था।

पंजाब की राजनीति के जानकार प्रो. मंजीत सिंह का कहना है- "यह जल्दबाजी बताती है कि सरकार व्यापक विमर्शा को लेकर गंभीर नहीं थी"। 14 अप्रैल तक राजनीतिक दलों के नेताओं ने सिख धार्मिक संस्थाओं और कानूनी विशेषज्ञों से सलाह न लेने पर सवाल उठाने शुरू कर दिए। कांग्रेस ने कहा कि कानून पर व्यापक बहस होनी चाहिए थी। भाजपा नेताओं ने तर्क दिया कि धार्मिक संगठनों से सलाह ली जानी चाहिए थी। अकाली दल के कुछ वर्ग भी धार्मिक पक्ष की आपत्तियों के साथ खड़े दिखाई देने लगे।

जैसे ही भगवंत मान ने नए कानून की उपलब्धि गिनाने के लिए राज्यव्यापी 'शुक्राना यात्रा' शुरू की, अकाल तख्त ने औपचारिक रूप से कानून की कई प्रमुख धाराओं को खारिज कर दिया। अकाल तख्त की आपत्तियां व्यापक थीं। उसका कहना था कि गुरु ग्रंथ साहिब की मर्यादा और पवित्रता से जुड़े नियम बनाने का अधिकार केवल अकाल तख्त और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी जैसी संस्थाओं को है। विधानसभा उन मामलों को नियंत्रित नहीं कर सकती, जिन्हें परंपरागत रूप से सिख पंथ संचालित करता आया है।

सबसे तीखी आलोचना उस प्रावधान को लेकर हुई, जिसमें गुरु ग्रंथ साहिब की हर 'बीड़' के लिए डिजिटल रजिस्ट्री और यूनिक आइडेंटिफिकेशन नंबर (यूआईएन) अनिवार्य किया गया था। कुछ ने तो यहां तक कहा कि गुरु ग्रंथ साहिब को पहचान संख्या देना उसकी बेअदबी के समान है।

'संरक्षकों' यानी ग्रंथी, पाठी और गुरुद्वारा समितियों से जुड़े प्रावधानने भी असंतोष पैदा किया। आलोचकों का कहना था कि उनकी रक्षा करने बजाय यह कानून उन्हें ही अपराधी बना देता है, क्योंकि किसी भी उल्लंघन के लिए संरक्षकों को ही कानूनी रूप से जिम्मेदार ठहराया गया है। शब्दावली भी विवाद का कारण बन गई। सिख विद्वानों ने 'बीड़' शब्द की जगह 'सरूप' शब्द इस्तेमाल किए जाने पर आपत्ति जताई और पवित्र ग्रंथ के संदर्भ में 'स्टोरेज' तथा 'सप्लाई' जैसे कारोबारी शब्दों की आलोचना की।

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर जगरूप सिंह सेखों ने भी बेअदबी पर राज्य के नियंत्रण के विचार की आलोचना की। उनके अनुसार, पंजाब में बेअदबी अब एक राजनीतिक हथियार बन चुकी है, जहां "राजनीतिक दल खुद को पंथ का सबसे बड़ा रक्षक साबित करने की होड़ में लगे हैं।"

> भगवंत मान ने जिसे मास्टरस्ट्रोक माना था, अब वह साफ तौर पर उलटा पड़ता दिखाई दे रहा है। इसने राज्य और सिख धार्मिक नेताओं के बीच एक नई खाई पैदा कर दी है

अल्पसंख्यक आयोग के पूर्व अध्यक्ष तरलोचन सिंह कहते हैं, "सिख धर्म में 'शबद' ही गुरु है और ईश्वर का वचन किसी सरकार या कानून के दायरे में नहीं आ सकता।" उनके अनुसार, यह कदम वोट बैंक की राजनीति का विस्तार है।

अकाल तख्त ने मामला आगे बढ़ाते हुए पंजाब विधानसभा अध्यक्ष कुलतार सिंह संधवां को तलब किया। बैठक के बाद जत्थेदार ने पंजाब सरकार को 15 दिन का अल्टीमेटम देते हुए कहा कि उन धाराओं को हटाया जाए जो सिख भावनाओं के खिलाफ हैं। मान की 'शुक्राना यात्रा' को अकाल तख्त ने 'अहंकार यात्रा' करार दिया। पिछले लगभग एक दशक में बेअदबी पंजाब में बेहद विस्फोटक भावनात्मक मुद्दा बन चुकी है। 2015 की बरगाड़ी बेअदबी घटना, जिसमें गुरु ग्रंथ साहिब के फटे हुए पन्ने पाए गए थे, ने राज्य की राजनीति को पूरी तरह बदल दिया। इसके बाद बेहबल कलां और कोटकपूरा में पुलिस फायरिंग, जिसमें दो प्रदर्शनकारियों की मौत हुई, ने जनाक्रोश को और भड़का दिया और तत्कालीन अकाली सरकार की विश्वसनीयता को गहरा नुकसान पहुंचाया। तब से हर राजनीतिक दल खुद को सिख आस्था का सबसे बड़ा रक्षक साबित करने की कोशिश करता रहा है।

पंजाब पुलिस के आंकड़ों के अनुसार, पिछले दस वर्षों में बेअदबी से जुड़े लगभग 597 एफआईआर दर्ज किए गए हैं। ऐसे मामलों में पंजाब देश में सबसे आगे है। एनसीआरबी के आंकड़ों के हिसाब से इस मामले में गोवा पंजाब से बहुत पीछे दूसरे नंबर पर है। इसके बावजूद पंजाब में दोषसिद्धि दर महज 7 से 9 प्रतिशत के बीच है।

भगवंत मान ने जिसे मास्टरस्ट्रोक माना था, अब वह साफ तौर पर उलटा पड़ता दिखाई दे रहा है। इसने राज्य और सिख धार्मिक नेताओं के बीच एक नई खाई पैदा कर दी है। पंजाब का हाल-फिलहाल का इतिहास देखें तो यह ऐसी लड़ाई है जिसे कोई भी सरकार अभी तक आसानी से नहीं जीत पाई। ■

हार के बावजूद स्टालिन का कद इतना ऊंचा क्यों?

के.ए. शाजी

जिस दोपहर एम.के. स्टालिन कोलाथुर से चुनाव हारे, लोगों को लगा कि बेशक वह गुस्सा जाहिर न करें या एकदम से चुप्पी की चादर न ओढ़ लें, लेकिन उनके हाव-भाव से निराशा जरूर झलकेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वह पार्टी कार्यकर्ताओं और समर्थकों का अभिवादन करने बाहर निकले जो आंखों में आंसू लिए वहां जमा हुए थे। स्टालिन बिल्कुल शांत और संयमित। चेहरे पर हल्की मुस्कान। उन्हीं मतदाताओं के सामने हाथ जोड़े हुए, जिन्होंने उन्हें हराया था।

स्टालिन खुली गाड़ी में निकले थे। कोलाथुर के लोगों का दशकों तक उनका साथ देने के लिए शुक्रिया किया। उन्होंने कहा कि चुनावी फैसले तो क्षणिक होते हैं, लेकिन जनसेवा जारी रहनी चाहिए- बिना किसी कड़वाहट, बिना किसी धोखे के आरोप, और बिना किसी भावनात्मक नाटक के। आलोचकों ने भी माना कि उन्होंने जिस गरिमा के साथ हार का सामना किया, वह आज की भारतीय राजनीति में बहुत कम दिखती है।

तमिलनाडु में एक और तस्वीर ने जबरदस्त भावनात्मक असर डाला। अपनी नई पार्टी को सत्ता में पहुंचाने वाले अभिनेता जोसेफ विजय स्टालिन के घर पहुंचे। तमिलनाडु का इतिहास इस मामले में खासा बुरा रहा है कि यहां मुख्यमंत्री अक्सर विपक्षी नेताओं की गिरफ्तारी के आदेश देते हैं, और सत्ताधारी पार्टी के विधायक विधानसभा में ही विरोधियों से हाथापाई पर उतर आते हैं। लेकिन स्टालिन और उनके बेटे उदयनिधि स्टालिन, जो अब नेता प्रतिपक्ष हैं, ने विजय का बेहद स्नेहपूर्ण ढंग से स्वागत किया। न कोई असुरक्षा का भाव, न युवा विजेता को कमतर दिखाने की कोशिश, और न कोई दबी आक्रामकता! समकालीन भारतीय राजनीति में ऐसा दृश्य दुर्लभ है।

चेन्नई की लेखिका और सामाजिक टिप्पणीकार कविन मलार कहती हैं, 'हम अब भी हैरान हैं कि वह हारे कैसे। आक्रामक हिन्दुत्व का उनका कड़ा विरोध भाजपा को दूर रखने में कामयाब रहा। स्टालिन अब भी कोई कमजोर नेता नहीं।' उनका तर्क है कि स्टालिन की रणनीति तमिलनाडु को भाजपा के लिए मुश्किल बनाए रखेगी, जो इस बार एक ही सीट जीत पाई। द्रमुक-अन्नाद्रमुक गठबंधन की इजाजत न देकर उन्होंने भाजपा नेतृत्व के जनादेश को प्रभावित करने के किसी भी संभावित प्रयास को विफल कर दिया। उन्होंने द्रमुक के गठबंधन सहयोगियों को विजय का समर्थन करने की भी अनुमति दी।

कोयंबटूर के कोंगूनाडु आर्ट्स एंड साइंस कॉलेज की प्रोफेसर सुमति पद्मनाभन कहती हैं, 'हार ने उन्हें कमजोर नहीं किया। सत्ता में रहते हुए स्टालिन सिर्फ एक मुख्यमंत्री नहीं थे; वह एक जननायक बन गए थे। वह उस समय वैचारिक स्पष्टता, शालीनता और संयम का प्रतीक बन गए, जब भारतीय राजनीति आक्रामक और ध्रुवीकृत होती जा रही थी।' तमिलनाडु के बाहर, तमाम लोग अब भी स्टालिन को समझ नहीं पाते। सालों तक, राष्ट्रीय मीडिया के एक हिस्से ने उन्हें एक राजनीतिक वंश के अनिच्छुक वारिस के तौर पर देखा- जिसमें पिता करुणानिधि जैसा करिश्मा नहीं था। बोलने के तरीके, उनके हाव-भाव को लेकर उनका मजाक उड़ाया गया। उनमें न तो एमजीआर जैसी स्टार अपील थी और न जयललिता जैसा प्रभावशाली आभामंडल।

चेन्नई के वरिष्ठ पत्रकार और राजनीतिक विश्लेषक पी.के. श्रीनिवासन कहते हैं, 'स्टालिन एक धैर्यवान नेता के रूप में उभरे। उन्होंने खौफ के जरिये राज नहीं किया। उन्होंने कभी भी खुद को अपरिहार्य सिद्ध करने की कोशिश नहीं की। उन्होंने दिखावे के बजाय व्यवस्था को प्राथमिकता दी।' इस लेखक ने जिनसे भी बात की, उनके अनुसार स्टालिन का एक नेता के तौर पर यह बदलाव सबसे पहले कोविड काल के दौरान देखने को मिला। जब कई राज्य बेबस या घबराए हुए थे, स्टालिन के तमिलनाडु ने सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत किया, जनकल्याणकारी योजनाओं के वितरण का विस्तार किया और जिला-स्तरीय निगरानी में भारी निवेश किया। अफसरों ने बताया कि समीक्षा बैठकों में स्टालिन असाधारण रूप से बारीकियों पर ध्यान देते और घोषणाओं के बजाय योजनाओं के क्रियान्वयन पर ज्यादा जोर देते।

स्टालिन के साथ काम करने वाले बिहार के एक वरिष्ठ आईएएस अधिकारी कहते हैं, 'मैंने कई मुख्यमंत्रियों के मातहत काम किया। जिस बात ने मुझे सबसे ज्यादा हैरान किया, वह थी पर्यावरण से जुड़ी चिंताओं और जलवायु परिवर्तन पर उनकी गहरी समझ। उनके कार्यकाल में वेटलैंड्स को अतिक्रमण से बचाया गया। जंगल का दायरा बढ़ा। जैव विविधता वाले क्षेत्र ज्यादा सुरक्षित हुए।'

पूरे तमिलनाडु में, 2022 में शुरू की गई 'चीफ मिनिस्टर ब्रेकफास्ट स्कीम' स्टालिन की राजनीति के सबसे मजबूत प्रतीकों में से एक बन गई। सरकारी स्कूलों में गरीब परिवारों के बच्चों को 'पोषक दोपहर भोजन कार्यक्रम' के अलावा नाश्ता भी मिलने लगा। राज्य के शिक्षकों ने बच्चों की हाजिरी और उनकी रुचि में साफ बदलाव देखा। माता-पिता, खासकर काम करने वाली माताओं ने, इससे बड़ी राहत महसूस की। इसी तरह, महिलाओं के लिए मुफ्त बस यात्रा ऐसा बदलाव साबित हुई जिसे सिर्फ आंकड़ों से नहीं समझा जा सकता। घरेलू कामगारों, नर्सों, मछली बेचने वालों, कपड़ा मजदूरों और छात्रों के लिए रोजाना का सफर आसान हुआ। महिलाओं को आने-जाने की आजादी और आत्मनिर्भरता मिली।

स्टालिन के शासन में कल्याणकारी योजनाओं को आम लोगों के लिए आर्थिक राहत के तौर पर तैयार किया गया था। सब्सिडी केन्द्रित पुरानी राजनीति के विपरीत उन्होंने सामाजिक न्याय को जन आकांक्षा से जोड़ने की कोशिश की। 'नान मुधलवन' कार्यक्रम ने छात्रों में कौशल विकास, भाषा प्रशिक्षण और रोजगार पाने की क्षमता बढ़ाने पर जोर दिया। निम्न-मध्यम वर्ग के लोग सरकार को अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति बेहतर बनाने में मददगार के तौर पर देखने लगे।

स्टालिन की राजनीति द्रविड़ विचारधारा के आधुनिकीकरण का भी प्रतिनिधित्व करती थी, जिसे तमिलनाडु के बाहर मुख्य रूप से हिन्दी-विरोधी आंदोलनों और क्षेत्रीय अस्मिता के नजरिये से देखा जाता रहा है। स्टालिन ने संघवाद, सामाजिक न्याय और बहुलवाद की संवैधानिक भाषा के दायरे में रहते हुए तमिल अस्मिता की राजनीति का विस्तार किया। उन्होंने लगातार कहा कि राज्यों को संघ के भीतर अपनी स्वायत्तता बनाए रखनी चाहिए। उन्होंने अलगाववादी बयानबाजी का सहारा लिए बिना हिन्दी थोपने का विरोध किया। संवैधानिक राजनीति के लिए प्रतिबद्ध रहते हुए केन्द्रीकरण को चुनौती दी। इसी संतुलन ने उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण बनाया।

> स्टालिन ने हार के बाद कहा कि चुनावी फैसले क्षणिक होते हैं, लेकिन जनसेवा जारी रहनी चाहिए- बिना किसी कड़वाहट, के। आलोचकों ने भी माना कि उन्होंने जिस गरिमा के साथ हार का सामना किया, वह आज की भारतीय राजनीति में बहुत कम दिखती है

स्टालिन ने धर्मनिरपेक्षता के बारे में बेहिचक बात की, जबकि कई नेता तो इस शब्द का इस्तेमाल करने से भी कतराते थे। आरक्षण का बचाव किया और बहुसंख्यकवादी राजनीति की खुलकर आलोचना की, लेकिन किसी भी तरह की गैर-जिम्मेदाराना उकसावे वाली कार्रवाई से भी बचते रहे।

नागरकोइल की महिला अधिकार कार्यकर्ता जेसिका रिचर्ड कहती हैं, 'उनके कार्यकाल के सबसे अहम पलों में एक था, गैर-ब्राह्मण समुदायों से प्रशिक्षित मंदिर पुजारियों की नियुक्ति। यह कदम बहुत प्रतीकात्मक था। स्टालिन ने इसे धर्म-विरोधी कदम के बजाय जातिगत ऊंच-नीच के विरोध के तौर पर पेश किया, और इस तरह उन्होंने सामाजिक बहिष्कार के खिलाफ द्रविड़ आंदोलन के संघर्ष को आगे बढ़ाया।' रिचर्ड सरकार के उस शुरुआती फैसले पर भी रोशनी डालती हैं, जिसके तहत 'पिछली सरकार के दौरान प्रदर्शनकारियों, कार्यकर्ताओं और आम नागरिकों के खिलाफ दायर हजारों मुकदमे वापस लिए गए। इनमें स्टरलाइट-विरोधी प्रदर्शन, सीएए-विरोधी प्रदर्शन और पर्यावरण से जुड़े अलग-अलग आंदोलन शामिल थे। संदेश साफ थाः एक लोकतांत्रिक देश में विरोध की आवाज को अपराध नहीं माना जाना चाहिए।'

परिसीमन पर हुई बहसों के दौरान स्टालिन के तर्क तमिलनाडु की सीमाओं से आगे तक गूंजे। उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया कि जिन दक्षिणी राज्यों ने आबादी पर सफलतापूर्वक नियंत्रण पाया और मानव विकास में निवेश किया, उन्हें परिसीमन में अपनी संसदीय नुमाइंदगी खोकर राजनीतिक रूप से दंडित नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने जिस स्पष्टता से इस मुद्दे की अहमियत को सामने रखा, वह बड़ी वजह थी कि सभी दक्षिणी राज्यों ने मिलकर एक साझा मोर्चा बनाया, और एक क्षेत्रीय चिंता राष्ट्रीय बहस का रूप ले सकी।

स्टालिन ने पार्टी, नगर प्रशासन और सांगठनिक राजनीति में दशकों बिताए हैं। एक युवा के तौर पर, आपातकाल के दौरान जेल भी गए थे। कई साल गुमनामी में बिताए, और शीर्ष तक उनका पहुंचना एक दृढ़ राजनीतिक यात्रा की परिणति के रूप में देखा गया। कोयंबटूर के किसान नेता सतीश कुमार कहते हैं, 'आज भारतीय राजनीति बहुत आक्रामक हो गई है। विपक्षी नेताओं के साथ अक्सर दुश्मनों जैसा बर्ताव किया जाता है। इस पृष्ठभूमि में, स्टालिन का गरिमामय संयम लगभग असाधारण प्रतीत होता है।'

हार में भी, स्टालिन भारत में विपक्षी राजनीति के लिए एक अलग संभावना का प्रतीक हैं। जिस तरह उन्होंने विजय को कमान सौंपी है, वह इसका प्रमाण है। ■

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

अकेली विनेश और सामने पूरा 'अखाड़ा'

विनेश को जान-बूझकर बाहर रखकर, डब्ल्यूएफआई एथलीटों के मनोबल और भारत की पदक संभावनाओं, दोनों को नुकसान पहुंचा रहा

नंदलाल शर्मा

भारतीय कुश्ती महासंघ के अध्यक्ष संजय सिंह ने 11 मई को गोंडा में यह घोषणा करते हुए कि "नियम किसी के लिए भी नहीं तोड़े जा सकते", पूर्व ओलिंपियन विनेश फोगाट की सीनियर ओपन रैंकिंग चैंपियनशिप में हिस्सा लेने की गुहार खारिज कर दी।

गोंडा में 10 से 12 मई तक आयोजित यह चैंपियनशिप, विनेश की लगभग दो साल बाद प्रतिस्पर्धी कुश्ती में वापसी का रास्ता खोलने वाली थी। लेकिन हुआ इसका उलटा, और इसने भारत की सबसे मशहूर महिला पहलवान और फेडरेशन के बीच के तल्खी भरे उस अध्याय को फिर से खोल दिया, जिसे विनेश ने कभी सार्वजनिक रूप से चुनौती दी थी।

'हम ही सही' मानने वाले संजय सिंह ने मीडिया से कहा कि पूर्व ओलंपियन विनेश फोगाट को पहले 15 पन्नों के कारण बताओ नोटिस का जवाब देना होगा, उसके बाद ही भारतीय कुश्ती महासंघ (डब्ल्यूएफआई) 26 जून 2026 तक उनका निलंबन हटाने पर सोच सकता है। जाहिर है, ऐसे में विनेश (31) के तीन-दिवसीय सीनियर ओपन रैंकिंग चैंपियनशिप में हिस्सा लेने का कोई सवाल ही नहीं था, जो एक दिन पहले यानी 10 मई को गोंडा में शुरू हो चुकी थी।

सीनियर ओपन रैंकिंग चैंपियनशिप में हिस्सा लेने से रोकने के फैसले पर अपना पक्ष रखतीं पूर्व ओलिंपियन विनेश फोगाट

महज दस माह के बच्चे की मां और 2024 से हरियाणा में कांग्रेस की विधायक विनेश, इस उम्मीद में गोंडा पहुंची थीं कि उन्हें मुकाबले में हिस्सा लेने का मौका मिलेगा। लेकिन डब्ल्यूएफआई ने उनके इरादों पर पानी फेरते हुए अनुमति देने से इनकार कर दिया, और इसकी वजह उनका निलंबन और उनके खिलाफ लंबित 'कारण बताओ नोटिस' को बताया।

विनेश का सवाल था कि "अगर आप वास्तव में 12 दिसंबर 2025 को मेरे द्वारा भेजे गए पत्र (जिसमें प्रतिस्पर्धी कुश्ती में वापसी की घोषणा की गई थी) पर कार्रवाई कर रहे थे, तो नोटिस जारी करने और जवाब मांगने में आपने पांच महीने का इंतजार क्यों किया?" उन्होंने 30 अप्रैल की समय-सीमा से दो दिन पहले ही अपना रजिस्ट्रेशन भी पूरा कर लिया था। हालांकि, कारण बताओ नोटिस उन्हें दस दिन बाद, 8 मई को मिला।

उन्होंने इंटरनेशनल टेस्टिंग अथॉरिटी (आईटीए) से मिला 3 जुलाई 2025 का वह संदेश भी शेयर किया, जो लॉज़न (स्विट्जरलैंड) से भेजा गया था और जिसमें कहा गया था कि वह 1 जनवरी 2026 से फिर से मुकाबले में हिस्सा लेने के लिए पात्र होंगी। टेस्टिंग ऑफिसर एस्टेल डलोज के ईमेल में लिखा था, "दरअसल, मैं गलती के लिए माफी चाहती हूं: आपको 1 जनवरी 2026 से आगे मुकाबले में हिस्सा लेने की अनुमति है।"

सिंह का तर्क था कि विनेश ने 2024 के पैरिस ओलिंपिक में 50 किलोग्राम फाइनल से अयोग्य घोषित किए जाने के बाद अपनी रिटायरमेंट की घोषणा कर दी थी, और इसलिए उन्हें दोबारा प्रतियोगिता में लौटने से पहले छह महीने का नोटिस देना जरूरी था। उन्होंने "अन्य उल्लंघनों" का भी जिक्र करते हुए जोर देकर कहा कि उन्हें पहले इन आरोपों का जवाब देना होगा और यह भी कि नोटिस में हुई देरी महज एक "प्रक्रियागत विलंब" था।

विनेश ने आरोपों के अध्ययन, वकीलों से सलाह-मशविरा और कागजात जमा करने के लिए समय मांगा और इस बीच, उन्होंने खुद को प्रतियोगिता में हिस्सा लेने की अनुमति देने का आग्रह किया। उन्होंने मीडिया से कहा, "मैं कोई विशेष सुविधा नहीं मांग रही हूं, सिर्फ प्रशिक्षण लेने और प्रतिस्पर्धा करने का एक अवसर चाहती हूं।" उन्होंने आगे कहा कि उन्हें गोंडा में उपलब्ध प्रशिक्षण सुविधाओं का इस्तेमाल तक करने की अनुमति नहीं दी जा रही है।

सिंह का 'हम ही सही' वाला अंदाज नहीं बदला। मीडिया में उनके हवाले से आया कि उन्होंने तो खुद ही इस बात की गारंटी दी थी कि वह (विनेश) पूरी तरह सुरक्षित रहेंगी और परिसर में कहीं भी बिना किसी रोकटोक के घूम-फिर सकती हैं; लेकिन नियम तो नियम होते हैं।

इस बयान ने 2023 में हुए पहलवानों के उस जोरदार विरोध प्रदर्शन की याद ताजा कर दी, जब विनेश, साक्षी मलिक और बजरंग पूनिया ने दिल्ली के जंतर-मंतर पर तत्कालीन डब्ल्यूएफआई प्रमुख और भाजपा सांसद बृज भूषण शरण सिंह के खिलाफ यौन उत्पीड़न के आरोपों पर प्रदर्शनों की अगुवाई की थी। विरोध प्रदर्शनों के दौरान पुलिस ने पहलवानों को बलपूर्वक हटा दिया था; जिसकी तस्वीरों ने पूरे देश में भारी आक्रोश पैदा कर दिया था।

> विनेश तीन बार की ओलिंपियन हैं। रियो के बाद घुटने की चोट से जूझना पड़ा, और टोक्यो के बाद सिर की चोट और कोविड से। पैरिस में मिली निराशा के बाद, विनेश ने एक्स पर लिखा, 'कुश्ती जीत गई, मैं हार गई। मेरे सपने टूट गए हैं'

इन्हीं विरोध प्रदर्शनों के चलते गोंडा से भाजपा के इस कद्दावर नेता को पद छोड़ना पड़ा और उनकी जगह बृज भूषण के अत्यंत करीबी सहयोगी संजय सिंह को डब्ल्यूएफआई का अध्यक्ष बना दिया गया। जाहिर है, चुनाव तो हुआ ही था, जिसमें संजय सिंह को 40 वोट मिले, जबकि एक पूर्व महिला पहलवान को सिर्फ सात वोट ही मिल पाए। गोंडा में विनेश ने तल्खी भरे लहजे में कहा, "कुछ भी बदला नहीं है"- साथ ही यह भी जोड़ा कि अब तो सारा कामकाज भी वही लोग चला रहे हैं।

पूर्व ओलिंपियन साक्षी मलिक ने भी विनेश के समर्थन में एक भावुक वीडियो अपील करते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी से प्रकरण में दखल देने की गुजारिश की। मलिक ने उस परंपरा की याद दिलाई- कि दुनिया भर के खेल संघ अक्सर बच्चे के जन्म या चोट के बाद वापसी करने वाले अपने शीर्ष खिलाड़ियों के लिए नियमों में ढील देते हैं।

उनका कहना था, "विनेश मां बनने के बाद खेल में वापसी करना चाहती हैं, तो इसका जश्न मनाया जाना चाहिए, न कि इसमें रुकावट डाली जानी चाहिए।"

*

इस विवाद ने 6 मई को डब्ल्यूएफआई द्वारा आगामी अंतरराष्ट्रीय ट्रायल्स के लिए जारी नए पात्रता मानदंडों की ओर भी ध्यान खींचा है। संशोधित नियमों में स्पष्ट किया गया था कि सिर्फ सीनियर राष्ट्रीय कुश्ती चैंपियनशिप (अहमदाबाद, दिसंबर 2025), सीनियर फेडरेशन कप (गाजियाबाद, फरवरी 2026) और अंडर-20 राष्ट्रीय चैंपियनशिप (भिलाई, अप्रैल 2026) के पदक विजेता ही ट्रायल्स के लिए पात्र होंगे। फेडरेशन ने घोषणा की कि 2025 और 2026 की चुनिंदा राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के पदक विजेता ही ट्रायल्स के लिए क्वालिफाई करेंगे, और साथ ही जोर देकर कहा कि "पिछला प्रदर्शन नहीं माना जाएगा"।

आलोचकों का मानना है कि नियमों का समय और शब्दावली देखकर लगता है कि इसे तो विनेश को बाहर रखने के लिए ही खास तौर से तैयार किया गया है।

विनेश को जान-बूझकर बाहर रखकर, डब्ल्यूएफआई एथलीट के मनोबल और भारत की मेडल जीतने की संभावनाओं, दोनों को नुकसान पहुंचाने का जोखिम उठा रहा है। विनेश कोई आम पहलवान नहीं हैं। वह तीन बार की ओलिंपियन हैं, रियो (2016) और टोक्यो (2020) ओलंपिक्स के बीच 17 चैंपियनशिप का हिस्सा रही हैं, और उनमें से 16 में मेडल भी जीते- नौ स्वर्ण, छह सिल्वर और एक कांस्य पदक। रियो के बाद उन्हें घुटने की गंभीर चोट से जूझना पड़ा, और टोक्यो के बाद उन्हें सिर की चोट और कोविड से जुड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। पैरिस 2024 में मिली निराशा के बाद, विनेश ने एक्स पर लिखा, 'कुश्ती जीत गई और मैं हार गई। मेरे सपने टूट गए हैं।'

गौर करने की बात है कि गोंडा में हुआ टूर्नामेंट तो सिलेक्शन ट्रायल भी नहीं था। संभवतः विनेश सिर्फ अपनी स्टैमिना और फिटनेस को परखना चाहती थीं, ताकि यह देख सकें कि क्या वह अब भी अंतरराष्ट्रीय टूर्नामेंट्स में प्रतिस्पर्धा कर पाएंगी।

वापसी करने की विनेश की कोशिश का समर्थन करने के बजाय, डब्ल्यूएफआई तो यह सुनिश्चित करने पर उतारू लगता है कि वह कभी वापसी कर ही न पाएं। खेल लेखिका शारदा उग्रा के शब्दों में कहें तो- "हमारी सबसे बेहतरीन, सबसे बहादुर और सबसे निडर एथलीट" को तकनीकी, नौकरशाही और दंडात्मक आपत्तियों के आधार पर मैदान में दोबारा उतरने से रोक दिया जाए- यह न सिर्फ विनेश फोगाट के लिए, बल्कि भारत के लिए और उस खेल के लिए भी एक बड़ा नुकसान है, जिसके प्रति वह पूरी तरह समर्पित हैं। ■

बिना 'बड़ों' के शामिल हुए, नीट पेपर लीक होना नहीं आसान

सवाल उठता है कि आखिर परीक्षाओं के पेपर बार-बार लीक क्यों हो रहे हैं?

फोटो: विपिन

नीट का पेपर लीक होने पर नई दिल्ली में प्रदर्शन करते एनएसयूआई के कार्यकर्ता

रश्मि सहगल

सीबीआई द्वारा 13 मई को राजस्थान के रामगढ़ से भारतीय जनता युवा मोर्चा के जिला सचिव दिनेश बिलवाल और उनके भाई मंगिलाल बिलवाल की गिरफ्तारी ने सियासी तूफान खड़ा कर दिया है। इन दोनों पर नीट-यूजी 2026 के पेपर लीक में कथित तौर पर शामिल होने का आरोप है। राजस्थान में विपक्षी पार्टियों ने आरोप लगाया है कि ये दोनों भाई एक बड़े नेटवर्क में बिचौलिये के तौर पर काम कर रहे थे, जिसमें प्रभावशाली नेता भी शामिल हैं। इस विवाद के कारण 3 मई को हुई नीट परीक्षा पहले ही रद्द की जा चुकी है।

देश भर के 5,432 केन्द्रों पर आयोजित इस प्रतिष्ठित और सबसे बड़ी मेडिकल प्रवेश परीक्षा में 22 लाख से अधिक छात्र शामिल हुए। नीट-यूजी देश के मेडिकल कॉलेजों में 1.3 लाख मेडिकल सीटों पर दाखिले का जरिया है, और इस परीक्षा का आयोजन करने वाली 'नेशनल टेस्टिंग एजेंसी' को केवल फीस से ही 1,300 करोड़ रुपये की कमाई होती है।

जांचकर्ताओं को शक है कि प्रश्न पत्र 15 लाख रुपये में बेचा गया था। राजस्थान का स्पेशल ऑपरेशंस ग्रुप (एसओजी) उन रिपोर्टों की जांच कर रहा है, जिनमें कहा गया है कि एक हाथ से लिखा हुआ 'गेस पेपर' वाट्सएप ग्रुप्स के जरिये छात्रों में बांटा गया था। एसओजी के वरिष्ठ अधिकारियों ने इस बात की पुष्टि की है कि बायोलॉजी और केमिस्ट्री के 100 से ज्यादा सवाल असल टेस्ट पेपर में आए थे। आरोप है कि यह दस्तावेज टेस्ट से 15 दिन पहले ही छात्रों के बीच बांटा जा रहा था।

जांच में इस कथित 'गेस पेपर' का संबंध राजस्थान के चुरू के एक एमबीबीएस छात्र से जुड़ा है, जो फिलहाल केरला में पढ़ाई कर रहा है। बताया जा रहा है कि उसने 1 मई को यह दस्तावेज अपने पिता को भेजा था, जो सीकर में 'पेइंग गेस्ट' आवास चलाते हैं। पिता ने इन सवालों को अपने राजनीतिक संपर्कों और छात्रों को 'बेच' दिया। इसके बाद यह दस्तावेज कोचिंग नेटवर्क और मैसेजिंग ऐप्स के जरिये बड़े पैमाने पर फैला दिया गया।

हालिया प्रकरण ने एक बार फिर सीकर के तेजी से बढ़ते कोचिंग हब को चर्चा में ला दिया है। करियर्स 360 के संस्थापक महेश्वर पेरी ने एक्स पर एक पोस्ट में दावा किया कि सीकर एक ऐसे बड़े नेटवर्क का केन्द्र है, जो ऐसे कामों के लिए बदनाम है। उन्होंने कहा कि इस क्षेत्र में नीट में सफलता की दर राष्ट्रीय औसत से छह गुना ज्यादा है। उन्होंने आरोप लगाया कि सीकर में छात्रों को परीक्षा से एक दिन पहले 'मॉक टेस्ट' के लिए बुलाया गया और उन्हें इन्हीं खास सवालों पर कोचिंग दी गई थी। उन्होंने यह भी कहा कि 2024 में भी ऐसे ही आरोप सामने आए थे, लेकिन उन्हें गंभीरता से नहीं लिया गया।

शिक्षाविदों का कहना है कि नेताओं, कोचिंग सेंटरों और नौकरशाही के नेटवर्क के बीच गहरा गठजोड़ है। एक शिक्षाविद ने नाम न छापने की शर्त पर दावा किया कि लीक हुआ प्रश्न पत्र परीक्षा से पहले ही बड़े पैमाने पर फैला दिया गया था और इसने 'सोशल मीडिया पर हंगामा' मचा रखा था। क्या यह अजीब नहीं कि इसके बाद भी एनटीए को इसका पता नहीं चल पाया? एनटीए महानिदेशक डॉ. अभिषेक सिंह, जो खुद एक आईटी विशेषज्ञ हैं और जिन्हें अभी दो महीने पहले ही प्रमुख के तौर पर नियुक्त किया गया था, ने एजेंसी का बचाव करते हुए कहा कि जैसे ही इस बात के सबूत मिले कि कुछ प्रश्न 3 मई से पहले ऑनलाइन शेयर किए जा रहे एक पीडीएफ से मेल खा रहे हैं, परीक्षा को तुरंत रद्द कर दिया गया।

सिंह ने कहा, 'केन्द्रीय एजेंसियों से हमें पता चला कि कुछ सवाल एक पीडीएफ से मेल खाते थे, जो परीक्षा से पहले ही सर्कुलेट हो रहा था। इसी आधार पर, हमने अपनी 'जीरो-एरर, जीरो-टॉलरेंस' नीति के सिद्धांत के तहत परीक्षा रद्द करने का फैसला लिया।' जांचकर्ता इस बात की जांच कर रहे हैं कि क्या नीट का असली पेपर सीधे नासिक की उस प्रिंटिंग फैसिलिटी से लीक हुआ, जहां इस साल के पेपर प्रिंट किए गए थे? यह पेपर लीक के पिछले मामलों से अलग है जो आमतौर पर ट्रांसपोर्टेशन या डिस्ट्रीब्यूशन के दौरान होते थे।

सीबीआई के पूर्व संयुक्त निदेशक डीआईजी शांतनु सेन (सेवानिवृत्त) ने कहा, 'पेपर लीक ज्यादातर उस जगह से होता है जहां पेपर सेट किया जाता है या फिर उस जगह से जहां उसे प्रिंट किया जाता है। अपनी 33 साल की सेवा के दौरान, हमने यूपीएससी के एक पेपर लीक मामले की जांच की। हमने उस मामले को 15 दिनों के भीतर सुलझा लिया था। उस लीक के लिए प्रिंटिंग प्रेस का सुपरिटेंडेंट ही जिम्मेदार था। हालांकि, पिछले सात सालों में बड़ी परीक्षाओं के 70 से ज्यादा पेपर लीक हो चुके हैं।'

लोकसभा में नेता प्रतिपक्ष राहुल गांधी ने भी बार-बार पेपर लीक होने के मामले पर सरकार को घेरा। उन्होंने एक्स पर लिखा, 'दस सालों में 89 बार पेपर लीक हुए हैं और 48 बार दोबारा परीक्षा हुई। हर बार वही वादे किए जाते हैं, और उसके बाद वही गहरी चुप्पी छा जाती है।' राहुल ने इस बात पर भी चिंता जताई कि एनटीए के पूर्व महानिदेशक सुबोध कुमार सिंह, जिन्हें नीट 2024 में बड़ी गड़बड़ियों के बाद पद से हटा दिया गया था, अब छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री के प्रधान सचिव के तौर पर काम कर रहे हैं।

*

इस बात पर भी सवाल उठाए जा रहे हैं कि एनटीए, जिसे केन्द्र सरकार से कोई बजटीय सहायता नहीं मिलती, वह छात्रों से फीस के तौर पर जमा की गई रकम से अपने प्रशासनिक खर्चों को कैसे पूरा करता है। राज्यसभा की एक समिति की रिपोर्ट में यह बात सामने आई कि एनटीए ने हजारों करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय अर्जित की। 31 जुलाई 2024 को राज्यसभा में दिए गए एक लिखित जवाब में शिक्षा मंत्री सुकांत मजूमदार ने एनटीए की स्थापना (2018) से लेकर अब तक की आय और व्यय का वर्ष-वार ब्योरा पेश किया, जिसमें पिछले छह वर्षों में 488 करोड़ रुपये का लाभ दिखाया गया है।

> राहुल गांधी ने इस बात पर चिंता जताई कि एनटीए के पूर्व महानिदेशक सुबोध कुमार सिंह, जिन्हें नीट 2024 में बड़ी गड़बड़ियों के बाद पद से हटा दिया गया था, अब छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री के प्रधान सचिव के तौर पर काम कर रहे हैं

3 मई को परीक्षा देने वाले 20 लाख से ज्यादा छात्रों के लिए, परीक्षा का रद्द होना बहुत बड़ा सदमा है, खासकर यह देखते हुए कि उन्होंने इसके लिए महीनों तैयारी की थी। जो छात्र वंचित समुदायों से आते हैं, उनके लिए यह अनुभव और भी तकलीफदेह है, क्योंकि उनके परिवारों ने महंगी कोचिंग और ट्यूशन के लिए बड़ी कुर्बानियां दीं।

12 मई को परीक्षा रद्द करने की घोषणा करते हुए एनटीए ने बताया कि परीक्षा दोबारा ली जाएगी, जिसके लिए छात्रों को न तो नए सिरे से रजिस्ट्रेशन करवाना होगा और न ही कोई परीक्षा शुल्क देना होगा। छात्रों द्वारा जमा किया गया परीक्षा शुल्क उन्हें वापस कर दिया जाएगा।

विडंबना है कि एनटीए का दावा है कि यह परीक्षा 'पूरी सुरक्षा प्रोटोकॉल' के तहत आयोजित की जाती है, जिसमें प्रश्न पत्रों की जीपीएस-ट्रैकिंग, बायोमेट्रिक वेरिफिकेशन, एआई की मदद से सीसीटीवी मॉनीटरिंग और 5 जी जैमर लगाना शामिल है। इस साल परीक्षा देने वाले दिल्ली के छात्र निखिल मल्होत्रा सवाल करते है, 'अगर सुरक्षा इतनी ही पुख्ता है, तो फिर लीक कैसे हुआ?' ■

संडे नवजीवन
रविवार, 17 मई, 2026 | www.navjivanindia.com

ऑपरेशन सिंदूर का अनचाहा नतीजा

यह कोई विजयी सैन्य सिद्धांत नहीं, बल्कि ऐसा 'स्ट्रेस टेस्ट' था जिसे भारत पूरी तरह नियंत्रित करने में विफल रहा

अशोक स्वैन

ऑपरेशन सिंदूर के एक साल बाद भी, नरेन्द्र मोदी सरकार इसे बतौर सबूत पेश करती है कि अगर आतंकवाद के तार पाकिस्तान से जुड़े पाए गए, तो बख्शा नहीं जाएगा। सरकार चाहती है कि हम मान लें कि यह भारत की नई सैन्य नीति है।

युद्धों का आकलन सिर्फ इरादों से नहीं, बल्कि युद्ध के बाद के शक्ति-संतुलन से होता है। इस पैमाने पर ऑपरेशन सिंदूर रणनीतिक सफलता से ज्यादा महंगा दुस्साहस लगता है, जिसने भारत की सैन्य और कूटनीतिक ताकत की सीमाओं को उजागर कर दिया। ऑपरेशन ने पाकिस्तान की अहमियत बढ़ा दी और चीन के हथियारों को अप्रत्याशित प्रचार दे दिया।

नई दिल्ली का मकसद आतंकवादी ढांचे को निशाना बनाना, तनाव को परमाणु टकराव तक बढ़ने से रोकना और यह बताना था कि पहले बड़े आतंकवादी हमलों के बाद जो संयम बरता जाता था, वह अब बीते दिनों की बात हो गई है। हमले ने बताया कि भारत परमाणु जोखिमों के बावजूद पाकिस्तान की जमीन पर हमला करने को तैयार है। लेकिन युद्ध का मैदान जल्द ही 'सोच-समझकर दी गई सजा' की तय पटकथा से बाहर निकल गया।

पाकिस्तान ने इसका न केवल सैन्य रूप से जवाब दिया, बल्कि इसका राजनीतिक, कूटनीतिक और मनोवैज्ञानिक इस्तेमाल किया। संघर्ष से पहले, भारत के पास न केवल बड़ी अर्थव्यवस्था और बड़ी सेना थी, बल्कि पारंपरिक श्रेष्ठता की गहरी पैठी धारणा भी थी। उस धारणा ने कूटनीति, प्रतिरोध, नैरेटिव और पाकिस्तान की अपनी कमजोरी की भावना को आकार दिया था। 'ऑपरेशन सिंदूर' ने इसे तोड़ दिया। पाकिस्तान ने भारत के दो, पांच या उससे ज्यादा विमान गिराए - यह बात आज भी विवाद का विषय है। लेकिन भारत के वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों और कई अन्य लोगों से कुछ हद तक पुष्टि हुई कि पाकिस्तान के चीन निर्मित लड़ाकू विमानों ने भारतीय जेट विमानों को मार गिराया जिनमें कम-से-कम एक राफेल भी था और यह रणनीतिक चर्चा का रुख बदलने वाला साबित हुआ।

पारंपरिक सैन्य श्रेष्ठता महज नारा नहीं। इसे सेंसर, मिसाइलों, इलेक्ट्रॉनिक युद्ध, कमांड नेटवर्क, लड़ाकू विमानों की गुणवत्ता, पायलट प्रशिक्षण और सूचना अनुशासन-इन सभी क्षेत्रों में साबित करना होगा। हो सकता है भारत ने संघर्ष के अंतिम चरणों में पाकिस्तानी हवाई अड्डों और सैन्य बुनियादी ढांचे पर हमले किए हों। संभव है, शुरुआती नुकसान के बाद उसने रणनीति बदलकर लंबी दूरी के सटीक हथियारों का इस्तेमाल किया हो। लेकिन आधुनिक युद्ध में, पहली तस्वीरें और शुरुआती दावे ही वैश्विक कहानी को आकार देते हैं। भारत की चुप्पी से पैदा खालीपन को पाकिस्तान ने भरा और चीन ने उसे फैलाया। दुनिया ने भारत के घोषित 'दंडात्मक और सटीक' हमलों पर नहीं, बल्कि इसपर ध्यान दिया कि चीनी लड़ाकू विमानों और पाकिस्तानी रणनीतियों ने भारत की वायु शक्ति को सफल चुनौती दी। पाकिस्तान को अपने दावे को साबित करने की जरूरत नहीं थी। उसे बस भारत की हवाई ताकत पर शक पैदा करना था। इसलिए, 'ऑपरेशन सिंदूर' ने ऐसी कोई एकतरफा बढ़त हासिल नहीं की, जैसा भगवा समर्थक दावा करते हैं। भारत फौजी तौर पर ज्यादा ताकतवर है, लेकिन पाकिस्तान ने दिखाया कि कागजों पर दिखने वाली ताकत को नए हथियारों, नेटवर्किंग, चीन की मदद, लंबी दूरी की मिसाइलों और सोची-समझी रणनीति से कमजोर किया जा सकता है।

ऑपरेशन सिंदूर को लेकर सत्तारूढ़ दलों का फुलाया गुब्बारा अंततः फूट ही गया और राजनयिक फायदा अन्य देश उठा ले गए

भारत के लिए इसके कूटनीतिक नतीजे भी कम असहज नहीं रहे हैं। वॉशिंगटन भारत के ज्यादा करीब था, खाड़ी देशों की नीति भारत के प्रति ज्यादा व्यावहारिक थी, और इस्लामाबाद कर्ज, राजनीतिक अस्थिरता और विद्रोह के तले दबा था। 'सिंदूर' के बाद पाकिस्तान ताकतवर तो नहीं बना, लेकिन फिर उपयोगी जरूर बन गया। डॉनल्ड ट्रंप ने बार-बार सीजफायर का श्रेय लिया और पाकिस्तान के सेना प्रमुख आसिम मुनीर को एक अहम वार्ताकार के तौर पर तवज्जो दी। भारत के लिए, जो जोर देता रहा है कि कश्मीर और भारत-पाकिस्तान का तनाव द्विपक्षीय मामले हैं, यह एक कूटनीतिक झटका था। इस संकट का मतलब यह था कि भारत की कार्रवाई ने बाहरी मध्यस्थता के लिए फिर से गुंजाइश पैदा कर दी।

मुनीर को इससे फायदा हुआ। लड़ाई से पहले घरेलू आलोचना से जूझ रही पाक सेना ने खुद को भारत से दो-दो हाथ करने वाले रक्षक के तौर पर पेश किया। जनरल का वैश्विक कद बढ़ा, खासकर ट्रंप की वॉशिंगटन में हुई निजी कूटनीति के संदर्भ में। पाकिस्तान ने खुद को पश्चिम एशिया, ईरान और खाड़ी क्षेत्र की सुरक्षा में एक अहम किरदार के तौर पर स्थापित किया। संभव है कि यह स्थायी रणनीतिक वापसी न हो, लेकिन इसने भारत के इस दावे को कमजोर किया कि पाकिस्तान कोई मायने नहीं रखता। मोदी पाकिस्तान को सजा देना चाहते थे। इसके बजाय, उन्होंने रावलपिंडी को खोई तवज्जो वापस पाने में मदद की।

ताकत का पैमाना पहले वार करने की बहादुरी नहीं। इसका पैमाना वह काबिलियत है कि उसके बाद जो कुछ हो, उसे कैसे आकार देते हैं। इस लिहाज से, मोदी की इस चाल ने पाकिस्तान को नैरेटिव दिया, चीन को बाजार, ट्रंप को मंच और दक्षिण एशिया को खतरनाक भविष्य

चीन का पहलू और अहम है। पाकिस्तान लंबे समय से चीनी हथियारों पर निर्भर है, लेकिन 'ऑपरेशन सिंदूर' ने दोनों के बीच सैन्य और खुफिया जानकारी के आदान-प्रदान को और गहरा कर दिया। चीन ने पाकिस्तान को 'रियल-टाइम' मदद दी और संकट का इस्तेमाल भारतीय प्रणालियों के खिलाफ अपने हथियारों को परखने में किया। बीजिंग के लिए, यह कम लागत वाला रणनीतिक अनुभव था। उसे भारत से सीधे लड़ना नहीं पड़ा और वह भारत की प्रतिक्रियाओं को देख सका, लड़ाकू विमानों को परख सका, पश्चिमी विमानों का आकलन कर सका, और किसी भी संभावित संघर्ष के लिए सबक सीख सका।

चीन के रक्षा उद्योग को फौरन फायदा हुआ। जे-10सी एक बिना परखे लड़ाकू विमान के तौर पर नहीं, बल्कि भारत और फ्रांसीसी लड़ाकू विमानों के खिलाफ युद्ध में कामयाबी पाने वाले विमान के तौर पर सामने आया। एविक चेंगदू का शेयर भाव तेजी से बढ़ा और पश्चिमी प्रणालियों के सस्ते और भरोसेमंद विकल्प खोज रहे देशों में चीनी विमान में दिलचस्पी बढ़ गई।

रक्षा बाजार सिर्फ प्रदर्शन से नहीं, बल्कि कहानियों से भी बनते हैं। युद्ध हथियार की विश्वसनीयता साबित करने का मौका होते हैं। भारत ने एक ऐसा ऑपरेशन शुरू करके, जिससे पाकिस्तान और चीन को अपनी प्रणालियों को दिखाने का मौका मिला, अनजाने ही उस सैन्य तंत्र की प्रतिष्ठा बढ़ा दी, जिसे उसे रोकने की कोशिश करनी चाहिए थी।

कहने का मतलब यह नहीं है कि भारत को पहलगाम की घटना को नजरअंदाज कर देना चाहिए था। ऐसे निर्मम नरसंहार के बाद कोई सरकार चुप नहीं बैठ सकती। सवाल यह नहीं है कि क्या भारत को जवाब देने का अधिकार था, सवाल यह है कि क्या मोदी द्वारा चुना गया सियासी रंग में रंगा जवाब, भारत की सुरक्षा को बेहतर बना पाया? एक ऐसी कार्रवाई, जिसमें विमानों का नुकसान हो, पाकिस्तान के सैन्य नैरेटिव को मजबूती मिले, ट्रंप मध्यस्थता के दावे करने लगें, चीन और पाकिस्तान के बीच सहयोग गहरा जाएं, और चीन के लड़ाकू विमानों का जखीरा बढ़ जाए- को सफल नहीं कहा जा सकता। यह इस बात की चेतावनी है कि सामरिक कार्रवाई और रणनीतिक परिणाम के बीच क्या अंतर होता है।

सबसे बड़ा खतरा यह है कि भारत और पाकिस्तान दोनों को अब यह लगने लगा है कि तनाव को नियंत्रित किया जा सकता है। भारत ने घोषणा की है कि आतंकवाद को युद्ध की कार्रवाई के रूप में देखा जाएगा। पाकिस्तान का मानना है कि त्वरित जवाबी कार्रवाई से संकट अंतरराष्ट्रीय स्तर पर फैल सकता है और हस्तक्षेप के लिए मजबूर होना पड़ सकता है।

इसलिए ऑपरेशन सिंदूर को विजयी रणनीति के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे तनाव परीक्षण के रूप में याद किया जाना चाहिए जिसे भारत नियंत्रित नहीं कर सका। इसने खुफिया जानकारी, हवाई युद्ध की तैयारी, रणनीतिक संचार और कूटनीतिक पूर्वानुमान में गंभीर कमियों को उजागर किया। इसने दिखाया कि चीन कोई तीसरा पक्ष नहीं, बल्कि एक सक्रिय ताकत है। इसने दिखाया कि ट्रंप के नेतृत्व में वाशिंगटन से उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह पाकिस्तानी उपयोगिता पर भारतीय संवेदनशीलता को प्राथमिकता देगा। सबसे बढ़कर, इसने दिखाया कि दिखावटी कठोरता रणनीतिक शर्मिंदगी का कारण बन सकती है।

एक साल बाद युद्धविराम कायम है, लेकिन और भी नहीं। सिंधु जल संधि निलंबित है, कूटनीति ठप है, दोनों ओर का जनमत अधिक सैन्यवादी हो गया है। मोदी ऑपरेशन सिंदूर के जरिये भारत को अनियंत्रित क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित करना चाहते थे। इसके बजाय, इसने एक कठोर सच्चाई को उजागर किया।

ताकत का पैमाना पहले वार करने की बहादुरी नहीं। इसका पैमाना वह काबिलियत है कि उसके बाद जो कुछ हो, उसे आप कैसे आकार देते हैं। इस लिहाज से, मोदी की इस जोखिम भरी चाल ने पाकिस्तान को नैरेटिव दिया, चीन को बाजार, ट्रंप को मंच और दक्षिण एशिया को कहीं ज्यादा खतरनाक भविष्य। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

फोटो: गेटी इमेजेज

बालेन्द्र शाह जिस तरह के कदम उठा रहे, उससे साफ है कि दक्षिण एशिया में कूटनीतिक आकार में बदलाव हो रहा

भारत के लिए परीक्षा की घड़ी

कंचन झा

हाल ही में जब नेपाल के प्रधानमंत्री बालेन्द्र शाह ने यह कहते हुए भारत के विदेश सचिव विक्रम मिस्री से मिलने से इनकार कर दिया कि उनका 'दर्जा' बराबर का नहीं, तो क्या काठमांडू और क्या दिल्ली, सुदूर अमेरिका तक एक छोटा-मोटा कूटनीतिक तूफान खड़ा हो गया। कारण, कुछ ही दिन पहले शाह ने अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप के दक्षिण और मध्य एशिया के लिए विशेष दूत, सर्जियो गोर से मिलने से भी इनकार कर दिया था। विदेश मंत्री शिशिर खनाल और वित्त मंत्री स्वर्णिम वागले सहित उनके मंत्रिमंडल के सहयोगियों ने कथित तौर पर शाह से अपने फैसले पर पुनर्विचार करने का आग्रह किया, लेकिन वह अडिग रहे।

नई दिल्ली ने तब से यही कहा है कि मिस्री की यात्रा का समय 'दोनों पक्षों की सुविधा' से फिर तय किया जाएगा। यह घटना कूटनीतिक शिष्टाचार या राजनीतिक व्यक्तित्व से कहीं बड़ी वजहों से मायने रखती है। यह दक्षिण एशिया में आकार ले रहे बड़े बदलाव का संकेत हैः पुरानी 'समान दूरी' वाली राजनीति का कमजोर पड़ना, और नेपाल जैसे छोटे देशों पर बढ़ता दबाव कि वे इस तेजी से प्रतिस्पर्धी होते इलाके में ज्यादा रणनीतिक और अपने हितों पर आधारित विदेश नीति अपनाएं।

सवाल यह नहीं है कि नेपाल विभिन्न ताकतों में संतुलन साध सकता है या नहीं। सवाल यह है कि क्या वह अपनी भौगोलिक स्थिति को असुरक्षा के बजाय प्रभाव के रूप में इस्तेमाल करने वाली रणनीतिक सोच रखता है?

'दर्जे' का सिद्धांत प्रतीकात्मकता और राजनीतिक दिखावे से अधिक प्रेरित है। बेशक यह घरेलू स्तर पर कारगर हो, लेकिन कूटनीति की बात अलग है। परंपरा के अनुसार, विदेश सचिव पड़ोसी देशों के प्रधानमंत्रियों से मुलाकात करते हैं। यह अधीनता नहीं, कूटनीतिक समरूपता है। ऐसी मुलाकातों को ठुकराने से दूरी पैदा होती है और अंतरराष्ट्रीय रिश्तों में दूरी शायद ही कभी तटस्थ होती है।

थ्यूसीडाइड्स से लेकर हंस मोर्गेंथाउ तक के शास्त्रीय यथार्थवादी, और केनेथ वाल्ट्ज से लेकर जॉन मियर्सहाइमर तक के नव-यथार्थवादी सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के बारे में एक गंभीर दृष्टिकोण साझा करते हैंः कि यह अराजक, संरचनात्मक रूप से असमान और मूलतः भावनाहीन है। आदर्शवाद कभी-कभार आता है, लेकिन यथार्थवाद हमेशा लौटकर आता है। देश तभी सहयोग करते हैं जब इससे उनके हित पूरे होते हों। नेपाल जैसे देश के लिए- जो चारों ओर से जमीन से घिरा है, जिसका बाजार सीमित है, और जो अपने दो बड़े पड़ोसियों पर निर्भर है- यह भूगोल है जो सिद्धांत के जरिये अभिव्यक्त हो रहा है। नतीजा साफ है। नेपाल की विदेश नीति अब गुटनिरपेक्षता या 'समान दूरी' जैसे पुराने नारों पर आधारित नहीं रह सकती। इसे अब 'रियेलपॉलिटिक' में बदलना होगाः यानी राष्ट्रीय हितों का स्पष्ट और व्यावहारिक अनुसरण।

नेपाल के सबसे सम्मानित नेताओं में से एक, बी.पी. कोइराला ने 1970 के दशक में 'समान दूरी' की नीति को 'संख्याओं का खेल' कहकर खारिज कर दिया था; जिसके अनुसार दिल्ली के साथ किए हर समझौते को बीजिंग के साथ समझौते से संतुलित करना जरूरी होता था। इसके बजाय, उन्होंने एक ऐसी नीति की वकालत की, जो कृत्रिम समरूपता पर नहीं, बल्कि वास्तविक हितों पर टिकी हो।

वर्तमान हालात पर रोशनी डालने वाले दो अन्य नजरिया हैं। पहला, नवशास्त्रीय यथार्थवाद जो कहता है कि किसी राज्य का बाह्य व्यवहार केवल व्यवस्थागत दबावों से नहीं, बल्कि घरेलू संस्थाओं, नेतृत्व की धारणाओं और राजनीतिक संस्कृति से भी प्रभावित होता है। इस नजरिये से नेपाल की विदेश नीति तब तक अस्थिर रहेगी जब तक उसकी संस्थाएं स्थिर नहीं हो जातीं। दूसरा है रणनीतिक हेजिंगः किसी एक ताकत के साथ टकराव से बचते हुए कई विश्वसनीय विकल्प बनाए रखना। हेजिंग अवसरवादी और निर्मम स्वार्थ से प्रेरित होती है। आसियान राष्ट्र इसका अभ्यास करते हैं। वियतनाम, वाशिंगटन और बीजिंग दोनों के साथ इसका अभ्यास करता है। बांग्लादेश अपने हालिया राजनीतिक पुनर्गठन के बाद इसे सीख रहा है। श्रीलंका कोलंबो के बंदरगाह शहर और त्रिंकोमाली के बीच इसका पुनः अनुभव कर रहा है। नेपाल को भी इसे जल्दी सीखना होगा।

पहली बात, नेपाल को विदेश नीति को राष्ट्रीय पूंजी के रूप में देखना चाहिए, न कि मौसमी मुद्रा के तौर पर। हर वह सरकार जो अल्पकालिक घरेलू दिखावे के लिए कूटनीतिक लाभों को गंवाती है, वह उस पूंजी को नष्ट कर रही होती है जिसे पिछली पीढ़ियों ने बड़ी मेहनत से खड़ा किया था। देश को ऐसी संस्थागत निरंतरता की जरूरत है जो सरकारों के बदलने के बाद भी बनी रहे।

दूसरी बात, संसद को विदेश नीति पर अपना अधिकार फिर से हासिल करना चाहिए। अंतरराष्ट्रीय संबंधों और राज्य मामलों पर बनी समितियों को संधियों की बारीकी से जांच करनी चाहिए, रणनीतिक प्राथमिकताओं पर बहस करनी चाहिए, कार्यपालिका को सार्वजनिक रूप से बताए गए लक्ष्यों के प्रति जवाबदेह ठहराना चाहिए।

तीसरी बातः नेपाल और भारत को लंबित सीमा विवादों को सुलझाने की दिशा में आगे बढ़ना होगा। लिपुलेख, कालापानी, लिम्पियाधुरा 1,750 किलोमीटर से भी ज्यादा लंबी खुली सीमा पर आए दिन होने वाले टकराव के बिंदु हैं, जो बिहार को बीरगंज से, उत्तर प्रदेश को लुम्बिनी से और पश्चिम बंगाल को मेची से जोड़ती है। एक सुलझी हुई सीमा मजबूत संदेश देगीः कि दो लोकतांत्रिक देश बातचीत, धैर्य और साहस से विरासत में मिले विवादों को सुलझा सकते हैं। सीमा प्रबंधन को प्राथमिकता बनाया जाना चाहिए।

मानना होगा कि बड़ी जिम्मेदारी बड़े देश की है। भारत की 'पड़ोसी पहले' नीति अहम रही। सीमा पार बिजली व्यापार, मोतिहारी-अमलेखगंज पेट्रोलियम पाइपलाइन, जयनगर-जनकपुर रेल लिंक और भूकंप बाद पुनर्निर्माण में मदद- इन सब ने क्षेत्रीय जुड़ाव को मजबूत किया। पड़ोस से संयम, उदारता और इस भरोसे के साथ पेश आया जाता है कि छोटे साझीदार खुद को व्यक्त करें और उनकी हर छोटी-मोटी हिचक या चूक का बुरा न माना जाए।

अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा थाः आप दोस्त बदल सकते हैं, लेकिन पड़ोसी नहीं। नेपाल दिल्ली के लिए सुलझाने वाली कोई समस्या नहीं, बल्कि साथ मिलकर बढ़ने वाला साझीदार है। मिस्री प्रकरण को झटका मानने के बजाय, मौके के रूप में देखा जा सकता है- भारत के लिए यह दिखाने का मौका कि परिपक्व ताकतें बिना किसी अति-प्रतिक्रिया के मुश्किलों को सहजता से स्वीकारती हैं, और रणनीतिक धैर्य के साथ बातचीत जारी रखती हैं।

प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति देश का चेहरा होते हैं। जब दुनिया राजदूतों, दूतों या विदेश सचिवों के जरिये बातचीत करने आती है, तो सरकार के मुखिया का कमरे में रहना जरूरी नहीं। लेकिन दरवाजा कभी भी बंद नहीं दिखना चाहिए। भारत के विदेश सचिव के पीछे भारतीय राज्य का पूरा राजनीतिक वजन होता है। दक्षिण और मध्य एशिया के लिए अमेरिका के विशेष दूत ओवल ऑफिस की तरफ से बात करते हैं। 'कद' के नाम पर ऐसी मुलाकातों से इनकार करना रणनीतिक आत्मविश्वास नहीं, दिखावा है। असली ताकत समकक्षों का स्वागत करने, उन्हें ध्यान से सुनने, जहां जरूरी हो वहां डटकर जवाब देने, और ठोस नतीजे लेकर लौटने में होती है। यही असली कूटनीति है। आदर्शवाद से सिर्फ सुर्खियां बनती हैं। असली कूटनीति से हाइवे, ट्रांजिट कॉरिडोर, ऊर्जा सौदे, निवेश प्रवाह और सीमा विवादों का हल होता है।

आज नेपाल के सामने विकल्प दिल्ली और बीजिंग के बीच नहीं, हिचकिचाहट और रणनीतिक स्पष्टता के बीच है। भारत के सामने विकल्प प्रभाव और संयम के बीच नहीं है। यह पड़ोस को संभालने और उसे परिपक्व बनाने के बीच है

बीजिंग दक्षिण एशिया के साथ साफ शर्तों पर पेश आता हैः पहले तिब्बत, फिर कनेक्टिविटी, और हमेशा अपना नैरेटिव। दक्षिण एशिया खुद भी एक शांत पुनर्व्यवस्था के दौर से गुजर रहा है; और जो देश अपनी संस्थाओं को व्यवस्थित करेंगे, अपनी दिशा तय करेंगे, और विदेश नीति को एक दीर्घकालिक रणनीतिक संपत्ति के तौर पर देखेंगे, वही इस बदलाव की रफ्तार तय करेंगे।

'दो चट्टानों' के बीच फंसी शकरकंद' वाली नेपाली कहावत आज भी प्रासंगिक है, लेकिन शायद इसे ठीक से समझा नहीं गया। शकरकंद एक जगह स्थिर रहने से जिंदा नहीं रहती, बल्कि यह समझकर जिंदा रहती है कि कब झुकना है, कब बढ़ना है, और कब चट्टानों से अपने लिए जगह बनाने को कहना है। वहीं दूसरी ओर, चट्टानें भी तभी समझदार मानी जाएंगी, जब ये समझ लें कि एक फलती-फूलती शकरकंद स्वस्थ पहाड़ की निशानी है।

आज नेपाल के सामने विकल्प दिल्ली और बीजिंग के बीच नहीं, हिचकिचाहट और रणनीतिक स्पष्टता के बीच है। भारत के सामने विकल्प प्रभाव और संयम के बीच नहीं है। यह पड़ोस को संभालने और उसे परिपक्व बनाने के बीच है। जैसा कि रॉबर्ट फ्रॉस्ट ने कहा था, रास्ता हमेशा रहता है। आइए, हम ठोस कदमों, लचीली सोच और उस विनम्रता के साथ इस रास्ते पर मिलकर चलें, जिसे खोने का जोखिम हम दोनों में से कोई भी देश नहीं उठा सकता। ■

कंचन झा नेपाली कांग्रेस पार्टी के नेता और एमी-नामांकित पूर्व पत्रकार हैं

नफरत के केन्द्र में तब्दील होता ओडिशा

आर्थिक बहिष्कार से लेकर शारीरिक हमलों तक, राज्य में ईसाइयों के खिलाफ तेजी से बढ़ती हिंसा सुनियोजित

आकार पटेल

इस महीने मैं ओडिशा में एक 'जन-अदालत' (पीपुल्स ट्रिब्यूनल) के हिस्से के तौर पर मौजूद था, जो ईसाइयों- और विशेष रूप से आदिवासियों के खिलाफ होने वाले अत्याचारों की जांच कर रहा था। मेरे साथी ट्रिब्यूनल सदस्यों और मैंने नबरंगपुर, जयपुर, बालासोर और बारीपदा में 'कारवां-ए-मोहब्बत' संगठन के साथ मिलकर लगभग 300 महिलाओं और पुरुषों की बातें सुनीं। इनमें से ज्यादातर लोग, 90 प्रतिशत से भी अधिक आदिवासी थे।

हमने जो सुना और देखा, उससे यह साफ है कि पिछले दो सालों में ओडिशा सरकार ने लोगों के संवैधानिक और मौलिक अधिकारों को कुचले जाने की खुली छूट दे दी है। ईसाइयों के खिलाफ संगठित हिंसा की खुली अनुमति दी जाती है, और जब सरकारी तंत्र हरकत में आता है, तो वह अक्सर पीड़ितों को न्याय मिलने से रोकने की कोशिश करता है।

हिंसा का एक तय पैटर्न बन गया है, जैसा कि इस पूरे देश में हिन्दुत्व से जुड़ी गतिविधियों के मामले में देखने को मिलता है। किसी चीज की शुरुआत होती है—अक्सर किसी कानून के पास होने से—और फिर एक जैसी लगने वाली घटनाओं का सिलसिला हमें घेर लेता है: बीफ लिंचिंग, लव जिहाद, बुलडोजर, वगैरह। एक और बात जो ध्यान देने लायक थी, वह यह कि अत्याचारों की रफ्तार तेज होती जा रही है, क्योंकि ये पैटर्न पूरे राज्य में फैल जाते हैं और फिर दोहराए जाते हैं।

ओडिशा में हमने अत्याचारों के चार मुख्य प्रकार देखे। पहला है आदिवासी ईसाइयों के शवों को दफनाने से जबरदस्ती रोकना। अब उन्हें गांव के उस आम कब्रिस्तान में अपने मृतकों को दफनाने की अनुमति नहीं दी जाती, जहां अन्य आदिवासियों को दफनाया जाता है। उन्हें अपनी निजी जमीन पर भी अपने मृतकों को दफनाने से रोका जाता है। भीड़ इकट्ठा होकर शवों को दफनाने और अंतिम संस्कार की प्रार्थनाओं को शारीरिक रूप से रोकती है। शव इंतजार करते रहते हैं—कभी बर्फ पर रखे हुए, तो कभी सड़ते हुए—जबकि 'बातचीत' चल रही होती है। पुलिस की दिलचस्पी कानून से ज्यादा व्यवस्था बनाए रखने में होती है। इसका मतलब है कि वह कोई भी परेशानी नहीं चाहती और इसलिए भीड़ का ही पक्ष लेती है।

दूसरा तरीका है ईसाइयों का सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार। यह उन लोगों पर जुर्माना लगाकर किया जाता है जो उनसे मेल-जोल रखते हैं या उन्हें अपनी उपज बेचते हैं। इसमें ऐसे परिवार भी शामिल हैं जिन्हें अपने बेटे-बेटियों को घर से निकालने के लिए मजबूर किया गया। उनमें से कई लोगों के पास न तो कोई काम है और न ही गुजारा करने का कोई साधन। कई लोग तो जंगलों में रह रहे हैं। इनमें से लगभग सभी मामले इसी साल के हैं, जिनमें से कई तो पिछले दो महीनों के ही हैं।

ओडिशा के रायगढ़ जिले के डेंगास्वर्गी गांव का सेंट पॉल चर्च जिसे क्षतिग्रस्त कर दिया गया

तीसरा तरीका है ईसाई पूजा स्थलों पर जिनमें चैपल और घरेलू चर्च शामिल हैं—और पादरियों एवं पुजारियों पर शारीरिक हमले करना। प्रार्थना सभाओं और सामूहिक उपासना में जबरदस्ती रुकावट डालने और उन्हें बंद कराने की कई घटनाएं हुई हैं। जब पुलिस पहुंचती है, तो अक्सर पीड़ितों पर ही 'अवैध धर्मांतरण' के झूठे आरोप लगाकर उन्हें आरोपी बना दिया जाता है। पीड़ितों को जेल ले जाना और उन्हें वहीं रखना—जबकि हमलावर भीड़ आजाद घूमती रहती है। यह आम बात है।

चौथा—और अपेक्षित तरीका है हिंसाः ईसाई महिलाओं और पुरुषों पर शारीरिक हमले; उन्हें बांधना, पीटना, नंगा करना, अपमानित करना और अपनी आस्था को मानने के लिए जख्मी करना (यह उन बातों की याद दिलाता है जो किसी ने शुरुआती ईसाई शहीदों के बारे में पढ़ी थीं)।

> आदिवासियों ने अत्यंत गरिमा के साथ अपनी बातें रखीं। इनमें महिलाएं भी शामिल थीं। उनमें से एक ने जब अपने साथ हुए यौन हमले के बारे में बताना शुरू किया, तो एक पल के लिए रुकी, आंखें पोंछीं और फिर अपनी बात रखी

लोगों को पेड़ों से बांधा जाता है, उन्हें बोरों में डालकर बंद कर दिया जाता है और उनके साथ मारपीट की जाती है। कुछ लोगों का यौन उत्पीड़न किया गया, जबकि कुछ को जिंदा जलाने की कोशिशें की गई, जिन्हें आखिरी वक्त पर किसी तरह बचाया जा सका।

सवाल है कि जब यह सब हो रहा था, तब सरकार क्या कर रही थी? हिंसा के ज्यादातर मामलों में, पुलिस ने उन लोगों के खिलाफ ही आपराधिक मामले दर्ज किए जिन पर हमला हुआ था। इसके बाद उन्हें पुलिस थानों और जेलों में हिरासत में ले लिया गया। ऐसे भी कई मामले सामने आए, जिनमें ईसाइयों को डराने-धमकाने और उनके खिलाफ हिंसा करने में पुलिस की भी सीधे तौर पर भूमिका रही।

यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि हमने जो देखा, वह जिम्मेदारियों से जान-झकर मुंह मोड़ लेना और संवैधानिक तंत्र का चरमराना है। यह निष्कर्ष इसलिए भी अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि लोगों ने हमें बार-बार बताया कि पुलिस ने हिन्दुत्व संगठनों के साथ मिलकर उन्हें ₹समझौता₹ पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया। इन पत्रों में उन्होंने अपने ईसाई धर्म और सामूहिक उपासना को त्यागने का वचन दिया था।

ओडिशा एक राज्य के तौर पर अब सांप्रदायिक रंग में रंग चुका है। इसमें कोई हैरानी की बात नहीं है, क्योंकि अब यहां भारतीय जनता पार्टी का शासन है और उसकी अल्पसंख्यक-विरोधी विचारधारा से जुड़े तत्वों को मनमानी करने की पूरी छूट दी जा रही है।

ट्रिब्यूनल ने राज्य के मुख्य सचिव को पत्र लिखकर उम्मीद जताई है कि सरकार इस मुद्दे की गंभीरता को समझेगी और यह महसूस करेगी कि इस पर कार्रवाई करना उसका दायित्व है। शायद ये सबूत उन्हें कुछ करने के लिए प्रेरित करें। लेकिन हमें इस बारे में बहुत ज्यादा उम्मीद नहीं है, फिर भी हम इसके लिए जुटे रहेंगे।

आखिरी बात जो मैं कहना चाहता हूं, वह यह है कि आदिवासियों ने जिस गरिमा के साथ अपने ऊपर बीती घटनाओं के बारे में बताया, वह सचमुच काबिले-तारीफ थी। अपने खिलाफ हुए अपराधों का जिक्र करते समय भी वे पूरी तरह शांत और संयमित थे। इसमें महिलाएं भी शामिल थीं। उनमें से एक महिला ने, जब अपने साथ हुए यौन उत्पीड़न के बारे में बताया, तो वह एक पल के लिए रुकी, अपनी आंखें पोंछीं और फिर अपनी बात जारी रखी।

कई बातें मेरे मन में वैसे ही रह जाएंगी, जैसे कि मेरे लिए गए नोट्स में दर्ज हैं।

एक नौजवान, जब अपनी बात खत्म कर रहा था, तो अचानक प्रार्थना करने लगा। हमारे इंटरप्रेटर ने बताया कि यह भजन संहिता 23 है। बाद में मैंने इसे ढूंढ़कर देखा, तो पाया कि यह कुछ ऐसा था जिसे मैं स्कूल के दिनों से जानता थाः

'प्रभु मेरा चरवाहा है; मुझे किसी चीज की कमी नहीं होगी।
वह मुझे हरे-भरे चरागाहों में बिठाता हैः
वह मुझे शांत पानी के पास ले जाता है।
वह मेरी रुह को आराम देता हैः वह अपने नाम के लिए मुझे नेकी के रास्तों पर ले चलता है।
हां, भले ही मैं मौत के साये की घाटी से गुजरूं, मुझे किसी बुराई का डर नहीं होगाः क्योंकि तू मेरे साथ है।'

('The Lord is my shepherd; I shall not want.
He maketh me to lie down in green pastures:
he leadeth me beside the still waters.
He restoreth my soul: he leadeth me in the paths of righteousness for his name's sake.
Yea, though I walk through the valley of the shadow of death, I will fear no evil: for thou art with me.') ■

लोकतंत्र की उघड़ती जाती ऊपरी परत

इन दिनों देश में एक 'शैतानी हवा' बह रही है, जो सत्ता-लोभ, लालच, मजहबी कट्टरता, जातिवाद और हिंसा को नंगा कर दे रही है

फोटो: गेटी इमेजेज

नोएडा इंडस्ट्रियल एरिया में सैलरी बढ़ाने की मांग को लेकर मजदूरों के आंदोलन के दौरान पुलिस ने लाठियां बरसाईं

अभय शुक्ला

ये समय थोड़ा मुश्किल है, तो आइए इस हफ्ते की शुरुआत एक मुश्किल सवाल से करते हैं: नीचे दी गई घटनाओं में क्या समानता है?

- पिछले महीने नोएडा में फैक्टरी मजदूरों और घरेलू कामगारों द्वारा न्यूनतम मजदूरी बढ़ाने की मांग को लेकर किया गया व्यापक प्रदर्शन जो कई बार हिंसक भी हो गया।
- एक हाईकोर्ट जज का उस मामले से खुद को अलग करने से इनकार करना, जिसमें उस मामले के एक पक्ष के लिए उस जज के बच्चे काम करते हैं। साथ ही कथित तौर पर उस जज ने उस पक्ष से जुड़े संगठनों द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में शिरकत भी की थी।
- पश्चिम बंगाल के एक जिले में, ऐसे हजारों मतदाताओं द्वारा न्यायिक अधिकारियों का घेराव जिनका नाम वोटर लिस्ट से काट दिया गया था।
- पश्चिम बंगाल में लगभग 30 लाख मतदाताओं के नाम हटा दिए जाना- ये वे मतदाता थे जिन्होंने पिछले चुनावों में वोट डाला था और जिनके पास सभी जरूरी दस्तावेज थे; ऐसा एक अस्पष्ट, एल्गोरिदम-आधारित 'तार्किक विसंगति' की वजह से हुआ, जिसका प्रावधान न तो किसी कानून में है और न ही किसी अन्य राज्य में इसका इस्तेमाल किया जाता है।
- इन 30 लाख बदकिस्मत लोगों की लंबित अपीलों पर फैसला किए बिना ही चुनाव करवा देना, और वोट देने के उनके संवैधानिक अधिकार के प्रति सुप्रीम कोर्ट की घोर उदासीनता- यह कहना कि वे अगले चुनाव में वोट दे सकते हैं!
- ओडिशा की एक अदालत द्वारा आदिवासी और दलित आरोपियों (जिनपर आरोप तो थे, लेकिन जिन्हें दोषी नहीं ठहराया गया था) पर एक जातिवादी जमानत शर्त थोपना- कि उन्हें दो महीने तक हर सुबह पुलिस थानों की सफाई करनी होगी-जिसने उनकी गरिमा को ठेस पहुंचाई और कानून का मजाक बना दिया।
- राघव चड्ढा के नेतृत्व में आम आदमी पार्टी के सात राज्यसभा सांसदों का भाजपा में शामिल होना।
- ओडिशा के एक गरीब आदिवासी को अपनी मृत बहन का शव बैंक तक ले जाने के लिए मजबूर होना पड़ा, ताकि वह उसकी मृत्यु को साबित कर सके और उसके खाते में जमा मामूली रकम, उसके वारिस के तौर पर उसे मिल सके- इस घटना ने केवाईसी (नो योर कस्टमर) को 'नो योर कॉर्प्स' में बदल दिया।
- एक अदालत द्वारा एक राजनीतिक दल के नेताओं के खिलाफ नफरत फैलाने वाले भाषण के मामलों को इस आधार पर खारिज कर देना कि उनके बयान न तो नफरत फैलाने वाले थे और न ही हिंसा भड़काने वाले। इनमें से एक भाषण में वह कुख्यात नारा भी शामिल था: "देश के गद्दारों को, गोली मारो सालों को"। दूसरा एक मुख्यमंत्री का वीडियो था, जिसमें वह एक मुस्लिम व्यक्ति की तस्वीर वाले लक्ष्य पर राइफल ताने दिखाई दे रहे थे।

ऊपर जिन घटनाओं का जिक्र किया गया है, वे संदर्भ, विषय-वस्तु, महत्व और जगह के लिहाज से जरूर अलग हैं, लेकिन उन सबमें एक बात समान है: उस चीज का पूरी तरह ढह जाना जो किसी विकसित देश को 'विकसित' बनाती है- यानी शासन-प्रशासन, सामान्य कानून, सामाजिक मूल्य, सहानुभूति, कानून का राज, सरकार या उसकी संस्थाओं पर भरोसा, समानता का विचार और निष्पक्ष न्याय।

> कार्यपालिका ने हमारे समाज को इस हद तक क्रूर बना दिया है कि शीर्ष 10 फीसद लोग केवल अपनी सुख-सुविधाओं और विशेषाधिकारों की परवाह करते हैं, जबकि बाकी 90 फीसद लोगों को जैसे-तैसे गुजारा करने के लिए छोड़ दिया गया है

इन सब को एक साथ देखने पर, ये एक ऐसी चीज के टूटने की ओर इशारा करती हैं जो इन सबसे कहीं ज्यादा कीमती है- यानी खुद लोकतंत्र। ये डॉ. आम्बेडकर के उन दूरदर्शी और चेतावनी भरे शब्दों को सही साबित करती हैं: कि भारत में लोकतंत्र जमीन की ऊपरी परत जैसा एक बहुत ही पतला आवरण मात्र है, जिसे आसानी से उड़ाया जा सकता है और इसे कभी भी हल्के में नहीं लिया जाना चाहिए।

आजकल देश में एक 'शैतानी हवा' बह रही है, जो आम्बेडकर की बिछाई ऊपरी परत को हटाकर उस सत्ता-लोभ, लालच, मजहबी कट्टरता, जातिवाद और हिंसा को नंगा कर रही है, जो हमेशा से हमारे समाज में जिंदा रही। हमने उम्मीद की थी कि लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई प्रगतिशील सरकारें समय के साथ हमारी सभ्यता की इन बुराइयों को धीरे-धीरे मिटा देंगी और उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर देंगी; लेकिन हुआ इसका ठीक उलट।

एक के बाद एक सरकारों ने- और खासकर पिछले बारह सालों से सत्ता में रही सरकार ने-इन कमियों और दरारों को और भी चौड़ा किया है; इन्हें राष्ट्रीय (और यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय) नीतियों का मुख्य आधार बना दिया गया है, इन्हें कानूनों और शिक्षा के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जा रहा है, ये अब सरकारी नीतियों के ऐसे साधन बन गए हैं जिनके इस्तेमाल पर कोई शर्मिंदगी नहीं होती, और अब तो चुनाव भी इन्हीं मुद्दों के एजेंडे पर लड़े जा रहे हैं।

राघव चड्ढा का पाला बदलना इस भारी गिरावट की ही पुष्टि करता है, क्योंकि इससे यह साबित होता है कि उदारवादी परवरिश और लंदन की शिक्षा भी भारतीय राजनीति की बेईमानी और अवसरवादिता से बचाने में कोई ढाल नहीं बन सकती; साथ ही, यह राजनेताओं के प्रति आम लोगों के बढ़ते अविश्वास को भी सही ठहराता है।

कार्यपालिका ने हमारे समाज को इस हद तक क्रूर बना दिया है कि शीर्ष 10 फीसद लोग केवल अपनी सुख-सुविधाओं और विशेषाधिकारों की परवाह करते हैं, जबकि बाकी 90 फीसद लोगों को जैसे-तैसे गुजारा करने के लिए छोड़ दिया गया है। हम दुनिया के सबसे ज्यादा असमान देशों में से एक हैं, और हमें इस बात पर गर्व भी है। इस 'चुड़ैल के कड़ाहे' से लोकतंत्र जैसी चीज के निकलने की तो गुंजाइश ही नहीं है। हमने भोलेपन में यह उम्मीद की थी कि जब कार्यपालिका बेलगाम हो जाएगी, तो कम-से-कम हमारी न्यायपालिका उसे काबू में करेगी और कानून के राज को बचाकर रखेगी। लेकिन हमारी वह उम्मीद झूठी साबित हुई और अब धूल में मिल चुकी है, जैसा कि ऊपर बताई गई कुछ घटनाओं से साफ जाहिर होता है।

आज हम आपातकाल के दिनों वाले एडीएम, जबलपुर वाले दौर से भी नीचे गिर चुके हैं। तब कम-से-कम, संवैधानिक रूप से वैध आपातकाल तो लागू था; आज तो हमारे पास सरकार की सत्ता पाने की निरंकुश नंगी दौड़ को छिपाने के लिए वह दिखावा भी नहीं बचा।

आज हर दिन हमें हजारों न्यायिक वार झेलने पड़ रहे हैं- चाहे वह जमानत न देना हो, मजिस्ट्रेटों की नाक के नीचे चुनावों को चोरी होने देना हो, किसी खास विचारधारा के हिसाब से 'नफरत' की परिभाषा बदलना हो, जवाबदेही के किसी भी विचार को ठुकरा देना हो, या फिर न्यायिक मूल्यों की किसी भी पुनर्स्थापना से मुंह फेर लेना हो।

केवल संविधान ही किसी लोकतंत्र का निर्माण नहीं कर सकता, न ही यह सुनिश्चित कर सकता है कि लोकतंत्र जीवित रहे। ऐसा होने के लिए, ऊपरी मिट्टी की देखभाल अत्यंत सावधानी से करनी होगी; उसमें पोषक तत्व डालने होंगे और उन्हें संरक्षित रखना होगा; साथ ही, हानिकारक कीटाणुओं और खर-पतवारों को उससे दूर रखना होगा। इसके माली ऐसे लोग होने चाहिए जो ज्ञान और संवेदनशीलता से परिपूर्ण हों-ऐसे लोग जो अपने काम से प्रेम करते हों, न कि ऐसे भाड़े के टट्टू हों जो केवल ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की फिराक में रहते हों।

अफसोस की बात है कि आज हमारी जमीन के इस टुकड़े पर भाड़े के लोगों और मौकापरस्तों का कब्जा है। ऊपरी मिट्टी का जो कुछ भी हिस्सा बचा है, वह भी जल्द ही उड़ जाएगा; पीछे रह जाएगा एक ऐसा 'सभ्यतागत रेगिस्तान', जिसका इन सत्ता-लोभी और लालची लोगों तथा उनके भाड़े के टट्टुओं के अलावा किसी और के लिए कोई मोल नहीं होगा। वे एक बंजर जमीन पर राज करेंगे, लेकिन जैसा कि मिल्टन की रचना 'पैराडाइज लॉस्ट' में शैतान ने सोचा था: 'जन्नत में चाकरी करने से तो बेहतर है कि जहन्नुम में राज किया जाए।' ■

अभय शुक्ला रिटायर्ड आईएएस अधिकारी हैं। यह avayshukla.blogspot.com से लिए उनके लेख का संपादित रूप है

क्षत-विक्षत लोकतंत्र में बुद्धिजीवी

बुद्धिजीवी ही हैं जो विभिन्न सार्वजनिक मंचों का इस्तेमाल अपनी 'असहमत' अभिव्यक्ति को मुखर करने के लिए कर रहे हैं

अशोक वाजपेयी

भारत के नए निज़ाम ने यह बार-बार स्पष्ट किया है कि उसके द्वारा कल्पित हिन्दू राष्ट्र में मंत्रोच्चार आदि करने, विभिन्न अनुष्ठानों में दक्ष ब्राह्मणों के अलावा किसी तरह के बुद्धिजीवियों की कोई दरकार नहीं होगी। कुछ शायद विरुद्ध लिखने, हिन्दू नायकों पर महाकाव्य आदि लिखने के लिए भी जरूरी हों।

इसके अलावा जो बुद्धिजीवी शिक्षकों आदि के रूप में होंगे, उनका बुनियादी काम एक आज्ञापालक समाज लगातार शिक्षित-दीक्षित और तैयार करना होगा। शायद कुछ और जरूरी हों, जो टेलीविजन आदि में वाक्पटु हों और जिन्हें झूठ बोलने, दुर्व्याख्या करने आदि करने में आत्मविश्वास हो।

यह अकारण या आकस्मिक नहीं है कि बाकी बुद्धिजीवियों को सत्ता के उच्चतर स्तरों से 'अर्बन नक्सल', 'टुकड़े-टुकड़े गैंग' आदि कहकर लगातार लांछित किया जाता रहा है। निज़ाम के लिए उपयोगी और वांछनीय विप्रों की जमात लगातार बन और विकसित हो रही है। स्वतंत्र अध्यवसाय, शोध, जिज्ञासा, तर्कसंगति, वैचारिक संवाद, वस्तुनिष्ठता आदि सर्वथा अनावश्यक हैं। अवांछनीय भी।

ऐसा माहौल हिन्दुत्व की शक्तियों और प्रचारकों ने बहुत सुनियोजित ढंग से बनाया है जिसमें बुद्धिजीवी सिरे से अप्रासंगिक हो या मान लिए गए हैं। बुद्धि का अर्थ ज्यादातर जुगाड़, तिकड़म आदि हो गया है। ज्ञान की खिल्ली उड़ाई जाती है और अज्ञान का शिखरों से महिमामंडन हो रहा है। ज्ञान-विज्ञान, शोध आदि की संस्थाओं का इस कदर ब्यूरोक्रेटाइजेशन किया गया और किया जा रहा है कि अब भी बचे स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवियों के लिए काम करना, जीना तक मुहाल हो गया और हो रहा है।

अगर बेहद सक्रिय राजनीतिक भारत को ही भारत का सबसे निर्णायक अंग माल लें, तो वह ऐसा भारत है जिसे ज्ञान, बुद्धि, विचार, संवाद की कोई ज़रूरत नहीं रह गई है। राजनीतिक भारत और भारतीय राजनीति में, हमारे क्षत-विक्षत लोकतंत्र में बुद्धिजीवी की कोई जगह नहीं रह गई है।

अपनी इस अनर्जित अप्रासंगिकता में भारतीय बुद्धिजीवी क्या कर रहे हैं, इसका आकलन या विश्लेषण करना कठिन है। उसकी योग्यता भी नहीं है। फिर भी, मोटे तौर पर लगता यह है कि अब भी ऐसे बुद्धिजीवियों की संख्या कम नहीं है जो ईमानदार बौद्धिक प्रयत्न कर रहे हैं, भले उनके लिए अवसर और मंच, सुविधाएं और संवाद की संभावनाएं लगातार सिकुड़ रही हैं। इनमें अच्छी संख्या युवा बुद्धिजीवियों और अध्येताओं की है।

ऐसे में बुद्धिजीवी ही हैं जो विभिन्न सार्वजनिक मंचों का इस्तेमाल अपनी 'असहमत' अभिव्यक्ति को मुखर करने के लिए कर रहे हैं। ऐसे भी कुछ हैं जिनका राजनीति में तथाकथित प्रतिपक्ष से संवाद है और जो उसे वैकल्पिक अवधारणाएं और युक्तियां सुझा पा रहे हैं। दुर्व्याख्या और विस्मृति के दौर में, सौभाग्य से, कुछ बुद्धिजीवी ऐसे हैं जो प्रमाणित तथ्यों और संदर्भों के साथ दुर्व्याख्या को प्रश्नांकित कर रहे हैं। वे स्मृति का आग्रह कर रहे हैं।

इस सबमें जोखिम है। देर-सबेर हो सकता है कि ऐसे बुद्धिजीवियों पर बजरंग दल, पुलिस आदि के हमले हों। हमारे समय के ये बुद्धिजीवी रक्तबीज हैं: उन्हें हटा या नष्ट भी कर दिया जाए या हाशिये पर डाल दिया जाए, तो नए युवा बुद्धिजीवी पैदा होंगे जो उनके बौद्धिक सत्याग्रह को जारी रखेंगे, आगे ले जाएंगे। यह उम्मीद इस शायद अबोध विश्वास से निकलती है कि भारतीय राजनीति को न सही, भारतीय जन को हमेशा बुद्धिजीवियों की जरूरत रहेगी।

जंग के वक्त

हमारा समय, दुर्भाग्य से, कई जंगों से घिरा समय है। गाज़ा, यूक्रेन में जंग चलते कई साल हो गए और ताजा जंग ईरान को लेकर हो रही है। इस गिनती में वे जंग शामिल नहीं हैं जो हम अपने देश में रोजाना स्त्रियों, बच्चों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों, मजदूरों, किसानों आदि के खिलाफ सत्ताधारी शक्तियों को झूठ-नफरत-हिंसा-हत्या का एक अभियान चलाकर लड़ते देख रहे हैं।

हम पर कोई हमला नहीं हुआ है: हम ही अपने वंचित-शोषित वर्गों पर हमला कर रहे हैं। ऐसे में कामकाजी स्त्रियों के कई बरसों से साहित्य-विचार-कला में सक्रिय समूह 'रसचक्र' ने अपना एक दशक पूरा होने को लेबनानी-अमेरिकी कवयित्री ईतल अदनान की एक लंबी कविता 'जंग के वक्त में होना' के निधीश त्यागी द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद के मार्मिक पाठ से मनाया। पाठ किया अलका रंजन, पूर्वा भारद्वाज, देवयानी भारद्वाज और श्वेता त्रिपाठी ने।

लगभग एक घंटे अविराम चलते इस पाठ ने लगभग असंख्य दैनिक क्रियाओं के चलते जंग की मौजूदगी उसकी अंतर्ध्वनियों और आशयों को मर्मस्पर्शी ढंग से उभारा। भयावह नाश और विध्वंस के दौरान, जो जंग के अनिवार्य परिणाम होते हैं, हम सबकी, जो जंग से बचे या दूर या सुरक्षित हैं, दिनचर्या बदस्तूर चलती रहती है: जंग की आहट, उसके द्वारा मारे जा रहे लोगों की संख्या, ध्वस्त की गई जगहों के बारे में हम जानते और सुनते हैं और हमारी दिनचर्या चलती रहती है मानों हम अपनी जिजीविषा की गिरफ्त में हों।

इस अनूठी कविता का, जो 52 अनुच्छेदों में लिखी गई है, अंतिम अनुच्छेद इस प्रकार है:

कविता और दरख़्तों के बहाने अपना ध्यान बंटाने की कोशिश करना, देखना पेड़ों को तेजी से बढ़ते हुए, प्रकट और अदृश्य होते हुए, शैतानी हमलों के दौरान झूठे आश्रयों में शरण लेना, शरणार्थियों को बाहर निकालना, नए आश्रय से उन्हें बाहर खदेड़ना, एक फिलिस्तीनी को सिर पर और फिर पीठ भर गोली मारना, इस कसाईपने- में ईराकियों को शामिल करना, बड़े कैनवास को खून से रंगना, रात की ट्रेन पकड़ना फिर हवाई जहाज, पेरिस में उतरना, टेलीफोन उठाना, बेरूत का एक नंबर लगाना, दोस्त को कहते सुनना कि एक फिलिस्तीनी पत्रकार को किसी कट्टर एकेश्वरवादी ने बेहरमी से गोली मार दी, भगवान की जरूरत पर सोचना, इस समस्या को धकेलकर किनारे करना, कसांड्रा के बारे में सोचना, हमुराबी संहिता के कायदे को याद करना, चर्बी में डूब जाना, देखना उस संकरी और लंबी सड़क को देखना जो पूरी दुनिया को कत्लगाह की तरफ लिए जा रही है।

कविता के पाठ में ठंडी किस्म की, शांत-सी नाटकीयता थी जो उसके मर्म के सर्वथा अनुकूल थी।

अंग्रेजी में शमशेर

शायद एकाध साल हुआ होगा जब अंग्रेजी कवि-अनुवादक अरविन्द कृष्ण मेहरोत्रा ने मुझे बताया था कि वह शमशेर बहादुर सिंह की हिन्दी कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद करने जा रहे हैं। मैंने उन्हें कुछ संदर्भ और सामग्री उपलब्ध कराई जिसमें मुख्यतः उन पर लिखे साही आदि के निबंध थे। हाल में उन्होंने सूचित किया कि उन्होंने पचपन कविताओं का अनुवाद कर लिया है और वह पांच और कर, साठ की संख्या पहुंचने की कोशिश में हैं।

हिन्दी के इस अप्रतिम और मूर्धन्य कवि की कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है और शायद एक छोटी-सी पुस्तिका भी प्रकाशित हुई है। पर मेहरोत्रा का अनुवाद अलग स्तर का होगा। उनके कबीर, रहीम और विनोद कुमार शुक्ल के अनुवाद उच्च कोटि के हैं ओर बहुमान्य रहे हैं। शमशेर जी की कुछ कविताओं के उनके अनुवाद शिकागो की प्रसिद्ध कविता पत्रिका 'पोएट्री' में हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। उम्मीद है कि शमशेर जी की कविताओं का यह अनुवाद पुस्तकाकार जल्दी ही प्रकाशित हो जाएगा। ■

अशोक वाजपेयी वरिष्ठ साहित्यकार हैं। साभार: thewirehindi.com

फाइल फोटो

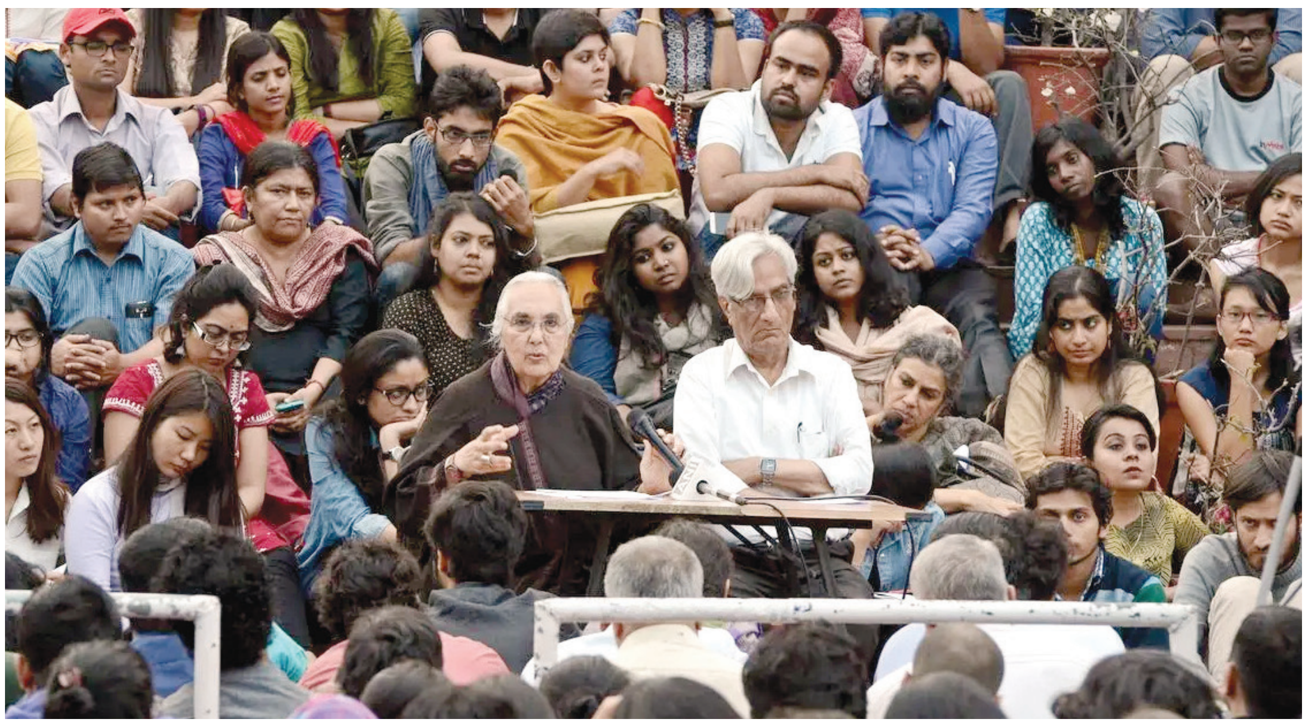

असहमतियां पहले भी होती थीं। पर अब शासन-प्रशासन के विरुद्ध कुछ भी कहना-सुनना लगभग असंभव। ऐसे में, इतिहासकार रोमिला थापर और हरबंस मुखिया जैसों को इस तरह सुनना दिनोंदिन मुश्किल

आज के दुर्व्याख्या और विस्मृति के दौर में भी कुछ बुद्धिजीवी ऐसे हैं जो प्रमाणित तथ्यों और संदर्भों के साथ दुर्व्याख्या को प्रश्नांकित कर रहे हैं। हो सकता है कि उन पर हमले हो जाएं। पर ये बुद्धिजीवी रक्तबीज हैं

ADVERTISEMENT RATE CARD

w.e.f. 1 September 2025

NATIONAL HERALD ON SUNDAY | संडे नवजीवन

The AJL Group has two weekly newspapers and three website portals in English, Hindi and Urdu

www.nationalheraldindia.com | www.navjivanindia.com | www.qaumiawaz.com

Commercial Display (w.e.f 1 Sept 2025)

Category of Advertisements (C/BW)	National Herald on Sunday (National Edition)	(Mumbai)	Sunday Navjivan (National Edition)
Full Page (1650 sq.cm)	Rs 10 Lakh	Rs 8 Lakh	Rs 10 Lakh
Half Page (800 sq. cm)	Rs 6 Lakh	Rs 5 Lakh	Rs 6 Lakh
Quarter Page (400 sq. cm)	Rs 4 Lakh	Rs 3 Lakh	Rs 4 Lakh
< Quarter Page (per sq. cm)	Rs 700	Rs 450	Rs 700

PAGE PREMIUM		Display Ads BW/Color	Political Ads BW/Color
	Front page	100% Surcharge	200% Surcharge
	page (3 & back)	25% Surcharge	100% Surcharge
	Specified page	50% Surcharge	50% Surcharge

*Advance payment is needed for all political advertisements.

Classified for festival greetings, anniversary & notices

Full page @ Rs 1,00,000 | Half Page @ 60,000

< 240 sq. cm @ Rs 175 per sq. cm

State Govt Advertisements/ C/BW

@ Rs 525 per sq. cm

The Associated Journals Limited
Herald House, 5A, Bahadur Shah Zafar Marg,
New Delhi 110002
Phone: 011-47636300 - 313
Whatsapp No: 9650400932
Email: advt@nationalheraldindia.com

Online Remittance/Bank Beneficiary Details:
Name: **Associated Journals Limited**
Bank Name: **Canara Bank**
Branch Name: **I P Estate, New Delhi-110002**
C/A No.: **90171010003955;** IFSC Code: **CNRB0019017**
GST No.: **27AAECA1180A1ZB ;** PAN No.: **AAECA1180A**

NOTE: Cheque / DD should be drawn in favor of "Associated Journals Limited" and sent to Herald House, 5-A Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi -110002.

General Terms and Conditions

w.e.f. 1 September 2025

National Herald on Sunday (Delhi & Mumbai) and Sunday Navjivan

1. All advertisements are published in Edition(s) of the paper and charges are payable strictly in advance of publication by Bank Draft or Bank Transfer (RTGS) and /or cheques only except in the case of advertising agencies accredited to INS.

2. Advertisements are accepted for publication on top of advertisements positions on an additional charge of 25%. No advertisement is however published on top of news-matter.Top of column position cannot be guaranteed even on payment of additional charge of 25%.

3. Extra charges for top of column position are calculated on the total amount payable inclusive of amount payable for specified pages.

4. Every reasonable effort is made to publish an advertisement on the date(s) specified by an advertiser. The Management however reserves the right to vary the date or the scheduled date(s) of publication, with or without notice to the advertiser, owing to the exigencies of availability of spaces.

5. The management reserves the right to refuse, suspend or stop, in its discretion, publication of any advertisement without assigning any reasons.

6. While every endeavour will be made by the Management to avoid publication of competitive advertisements in close proximity to one another, no guarantee can be given in this respect nor will the claims be entertained for free insertions in the event of announcements of rival product appearing on the same page.

7. The placing of an order by an Advertiser/Advertising Agency constitutes a warranty by the Advertiser/Advertising Agency to the Associate Joumals Limited Management that the Advertiser/ Advertising Agency has secured the necessary authority and permission in respect of the use in the advertisement or advertisements of pictorial representation of (or purporting to be of) living persons and all references to words attributing to living persons.

8. The advertisements will be charged at the rate applicable on the day of publication of the advertisement irrespective of the date of booking, date of release order and whether the advertisement is part of any package/scheme.

9. Standing instructions are accepted over Whatsapp or email. However verbal instructions must be clear and specific. Quoting reference of the previous release order and/or new scheduled dates of insertions in respect of which the instructions are given. These instructions should be given afresh either through Whatsapp/email and/or Landline phone.

10 Booking of space for premium positions in all The Associated Journals Limited publications will be confirmed only upon receipt of original releaseorder. Fax/Scanned copies, Emails will be entertained for the same.

11. "Reader" advertisements are accepted but will be distinguished from 'news matter' by a rule around the advertisement matter and expression 'advt' will be added at bottom.

12. Solus/Semi Solus positions cannot be guaranteed on the front page.

13. Cancellation charges @20% of the total cost of the front/Full page advertisement shall be levied if a cancellation of booking is made two days before the scheduled date of publication. Cancellation charges @35% of the total cost of the full front-page advertisement shall be levied if the cancellation of a booking of front/full page advertisement is made one day before the scheduled date of the publication.

14. In the event of printing mistake, omission or non-publication of advertisement, the advertising agencies shall have to furnish the instructionson behalf of their client for republication. In the event of a dispute the liability of Management shall be restricted to the amount received against sale of spaces for the advertisement received. All disputes /claims regarding advertisement /complaints must be made within a period of one month of publication date after which no claim will be entertained.

15. The Management shall not be responsible for any loss or damage caused by an error or inaccuracy in the printing of/or omission in inserting advertisements.

16. In case of dispute, the agency shall not be entitled to invoke any condition suggestive of existence of an arbitration agreement unless specifically agreed to by the Management.

17. No deduction is allowed from bills raised against publication of advertisement(s) on account of any defective insertion(s). Any claims in these respects, if admitted, will be met by publishing a corrigendum/ free insertion or the like, depending upon the merits of the claim vis-a-vis the error in publishing the advertisement(s) or other materials. Claims for refund or for compensation, if admitted, shall be restricted to the charges for advertisement received by Management. The decision of the management shall be final in this regard.

18. The advertisements released by Government/Semi Government/ Undertakings/Autonomous body are published in classified display column only at commercial rates irrespective of the number of words.

19. The advertising agencies releasing an advertisement on behalf of its client shall be deemed to have undertaken to keep the management indemnified in respect of costs, damages or other charges incurred by the Management as a result of any legal action or threatened legal action arising from and in relation to publication of any advertisement published in accordance with the release order and the copy of instructions supplied by the agency.

20. The agency shall bring to the notice of its clients these General Terms and it shall not be open to any of its clients to plead/claim or aver ignorance of these General Terms which apply to every transaction of sale of space in particular issue(s) of any of publications of The Associated Joumals Limited.

21. No agency commission is payable on the on the classified advertisements chargeable at DAVP rates.

22. Fraction of centimetre in excess of the scheduled size shall be charged as full centimetre if the advertisement exceeds the scheduled size. If the material supplied is shorter than the scheduled size, the advertisement will be charged for the size scheduled and not for theactual space occupied or consumed by the advertisement on the basis of the short size material so supplied.

23. The Management shall not be bound by notice of stoporders, cancellations, preponements/postponements or alterations/deletions/ additions in the material(s) of advertisement(s) booked for publication in special or specified position if received less than one week prior to dates of insertion. For ordinary advertisement, the stoppage or not of cancellation must reach at least four days before the scheduled date of publication of advertisement.

24. The Management reserves the rights to revise the rates and terms and conditions without any notice.

25. Every Advertiser/Advertising Agency acknowledges having read and accepted these Terms and Conditions.

26. Courts only in New Delhi, shall have the jurisdiction to entertain and decide all disputes and claims, arising out of publication of any advertisement in the Associate Journals limited publications.

27. The Management shall be at liberty to refuse to carry advertisements/ adjust amounts paid for subsequent ads against pre-existing liabilities, even without carrying such subsequent advertisement.

28. Advertising party hereby agrees to indemnify, defend and hold harmless AJL, it's directors, officers, shareholders and agents against any and all third party claims arising out of or in connection with the content or placement of the advertisement, and to the fullest extent.

29. In no event shall AJL be liable hereunder for any indirect, incidental, special, consequential, punitive or exemplary damages or losses in connection with these terms even if advised in advance of the possibility of arising of such liability, damages or losses.

30. In no event shall AJL's aggregate liability exceed Rs. 10,000 to any advertising party.

प्रधानमंत्री को चाय पिलाकर मीरा ने क्या पाया?

न कोई वादा उनके काम आया, न आश्वासन। फूल बेचने के उनके धंधे की स्थिति जस की तस

कृष्ण प्रताप सिंह

आपको मालूम होगा, कोई 28 महीने पहले, 2023 में 30 दिसंबर को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी अपनी बहुप्रचारित अयोध्या यात्रा के दौरान अचानक वहां के राजघाट स्थित कंधरपुर मुहल्ले की निवासिनी उज्ज्वला योजना की दस करोड़वीं लाभार्थी मीरा मांझी के घर जा पहुंचे थे। करीब बीस-पच्चीस मिनट वहां ठहर कर उनकी बनाई चाय पी (यह कहते हुए कि थोड़ी ज्यादा मीठी हो गई है) तो उनके सपनों को पंख लग गए थे और गोदी मीडिया में हफ्तों इसकी चर्चा होती रही थी। लेकिन क्या आपको यह भी मालूम है कि उसके बाद मीरा के सपनों का क्या हुआ?

नहीं मालूम होगा, क्योंकि उसके बाद जो हुआ, उसे बताने में इस मीडिया की जुबान कटती है, इसलिए उसने बताया ही नहीं। इतना भर बताकर चुप हो गया कि प्रधानमंत्री की आत्मीयता से 'आह्लादित' मीरा ने उन्हें 'भगवान' का दर्जा दे डाला, उनके द्वारा जूठे किए गए कप को ताजिंदगी संजोए रखने के इरादे से उसे ससम्मान पूजा की जगह रख दिया और अपनी जिंदगी बदलने के साथ ही भारतीय जनता पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़ने तक के सपने देखने लगीं।

तब एक संवाददाता ने यह तक दावा किया था कि अपने घर में अपने हाथों से प्रधानमंत्री को चाय पिलाकर मीरा ने अपनी जातीय अस्मिता की तुष्टि भी महसूस की और कहा कि इससे भगवान राम को नदी पार कराने वाले मांझी समुदाय में उनका नाम तो हुआ ही है, मांझी समुदाय का भी नाम हुआ है।

इसके कुछ दिनों बाद प्रधानमंत्री ने उन्हें धन्यवाद का पत्र और 'रिटर्न गिफ्ट' भेजा था। इसके साथ ही उत्तर प्रदेश की योगी आदित्यनाथ सरकार ने उन्हें जन आरोग्य योजना का लाभार्थी बना दिया था, जिससे वह एक बार फिर मीडिया की दिलचस्पी के केन्द्र में आ गई थीं और न्यूज चैनलों, सोशल मीडिया और अखबारों में अपनी चर्चा का भरपूर सुख उठाया था।

लेकिन अब? हम बताते हैं आपको। उनको और उनके पति को इस बात का अफसोस है कि वह सब चार दिनों की चांदनी भर सिद्ध हुआ। अब उनके परिवार का फिर अंधेरी रात, साफ कहें तो पहले से भी ज्यादा बुरे दिनों से सामना है।

उस 'चार दिन की चांदनी' को याद करते हुए वह बताती हैं कि प्रधानमंत्री के उनके घर आने से एक दिन पहले सरकारी अमले की ओर से अचानक उज्ज्वला योजना का रसोई गैस सिलेंडर उनके घर पहुंचाकर उनसे पूछा गया था कि वह उससे पहले पहल क्या पकाएंगी? जवाब में उन्होंने कहा था कि परंपरा के अनुसार पहले दिन कोई मीठी चीज यानी खीर वगैरह पकानी चाहिए, लेकिन उनके पास पैसे नहीं हैं, इसलिए चाय वगैरह कुछ भी बना लेंगी।

अगले दिन उनसे कहा गया था कि वह खाना पका लें, एक बड़ी शख्सियत उनके घर खाने आने वाली है। इस पर उन्होंने उत्सुकतापूर्वक दाल-भात और सब्जी पका ली और सोचा था कि रोटी उस शख्सियत के आने पर सेंक लेंगी। लगे हाथ उन्होंने चाय के लिए दूध आदि का इंतजाम भी किया था।

घंटे भर पहले अधिकारी सुरक्षा जांच वगैरह करने आए और बताया कि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी खुद उनके घर आ रहे हैं। खुशी की मारी वह ऐसी 'निहाल' हो गईं कि प्रधानमंत्री आए, कुछ बातें कीं और चाय पीकर चले भी गए, लेकिन उनसे इसके सिवा कुछ नहीं कह पाईं कि वह सरयू तट पर स्थित नया घाट पर श्रद्धालुओं को फूल बेचकर उससे होने वाली कमाई से गुजर-बसर करती हैं। फूल बेचने की बात पर प्रधानमंत्री ने खुश होकर कहा था कि अब अयोध्या में श्रद्धालुओं की आमदरफ्त कई गुनी बढ़ जाएगी। इतनी कि उनके फूल कम पड़ जाएंगे और उनको उनके बहुत अच्छे दाम मिलने लगेंगे।

बाद में उन्होंने जाना कि प्रधानमंत्री का उनके घर आना उनके लिए भले ही 'अचानक' था, सरकारी अमले के लिए नहीं था, क्योंकि वह महीनों से अंदरखाने इसकी 'तैयारियां' कर रहा था। 'उज्ज्वला योजना' का लाभ पाने के लिए उनके द्वारा भरा गया फार्म कई महीनों से संभवतः इसीलिए अटका रखा गया था कि उन्हें योजना की दस करोड़वीं लाभार्थी बनाकर उस रूप में पेश किया जा सके।

बहरहाल, प्रधानमंत्री के जाने के बाद उसी शाम अयोध्या के जिलाधिकारी नीतीश कुमार उनको जन आरोग्य योजना का आयुष्मान कार्ड देने उनके घर आए तो उन्होंने उनके सामने अपनी समस्याएं रखीं। यह विपदा भी रोईं कि उनके पास रोजी-रोटी का कोई ठीक-ठाक जरिया नहीं है। आगे भी नहीं हुआ तो उन्हें उज्ज्वला योजना के तहत मिला रसोईगैस सिलेंडर खत्म होने पर उसे फिर से भरवाना मुश्किल होगा और फिर से भट्ठी पर खाना पकाना पड़ेगा। इसलिए चाहती हैं कि उन्हें सरयू के नए घाट पर, जहां वह डलिया में ले जाकर घूम-घूम कर फूल बेचती हैं, बेचने का कोई स्थायी ठौर और उनके पति सूरज को कोई सुभीते की नौकरी दे दी जाए। यह भी कहा कि प्रधानमंत्री आवास योजना के तहत उन्हें अपने सिर पर छत तो नसीब हो गई है, लेकिन न घर की दीवारों पर प्लास्टर हुआ है, न उसमें शौचालय ही है।

उनके मुताबिक, जिलाधिकारी ने उनकी सारी मांगें पूरी करने की हामी तो भरी ही, 'यह भी कर देंगे, वह भी' की तर्ज पर कई और आश्वासन भी दे डाले। फिर तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा।

यह खुशी और बढ़ गई, जब विभिन्न समाचार माध्यमों के देशी विदेशी प्रतिनिधि/पत्रकार उनसे बात करने उनके पास आने लगे। उन्होंने उनसे भी अपनी विपदा रोई और कहा कि प्रधानमंत्री के सामने नहीं रो पाई हैं, इसलिए कृपापूर्वक वह उनकी बात प्रधानमंत्री तक पहुंचा दें। उन सबने इसकी हामी भरी और उनको भरपूर आश्वस्त किया।

उनके पूछने पर मीरा ने यह भी बताया कि अयोध्या में हुए 'विकास' से ऐसे लोगों के जीवन में ही 'बदलाव' आया है, जो पहले से कोई रोजगार करते आ रहे हैं या सुविधा और साधन संपन्न हैं। इसके विपरीत रोज कुंआ खोदने और पानी पीने वाले परिवारों के जीवन में कुछ खास नहीं बदला है। भले ही मुफ्त राशन मिल जाता है, गरीबी पीछा नहीं छोड़ रही। वह अभी भी अपने घर में बिजली का महज एक बल्ब जलाने के लिए विवश हैं क्योंकि बिजली का 'बड़ा' बिल नहीं भर सकतीं।

लेकिन इसके बाद उनकी कहानी में एक बहुत बड़ा मोड़ आ गया। कारण यह कि उनको और उनके पति सूरज को दूर-दूर से उनके घर आ रहे पत्रकारों के स्वागत-सत्कार के लिए हफ्तों अपना काम धंधा छोड़कर घर पर रहना और हजारों रुपये कर्ज लेना पड़ा। अलबत्ता, स्वागत सत्कार और बातचीत करने के बदले उनको हर किसी से उनकी बातें और मांगें प्रधानमंत्री तक जरूर पहुंचा देने के 'पक्के' वादे मिले। बिल्कुल वैसे ही जैसे जिलाधिकारी से मिले थे।

फाइल फोटो

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने मीरा माझी के घर चाय पी थी। उस समय कई वादे किए गए। पर तीन साल बाद भी दुर्दिन का जाला उसी तरह

> मीरा को पहले से सवाये-ड्योढ़े दाम पर फूल खरीदने पड़ रहे हैं। फूलों को पत्तों से बने 'दोने' में रखकर घाट पर घूमकर श्रद्धालुओं को दस-बीस रुपये में बेचने के लिए भी उन्हें पुलिस वगैरह को खुश रखना पड़ता है

लेकिन न कोई वादा उनके काम आया, न आश्वासन और घूम-घूम कर फूल बेचने के उनके धंधे की स्थिति अभी भी जस की तस है। अब उनको पहले से सवाये-ड्योढ़े दाम पर फूल खरीदने पड़ रहे हैं, जबकि फूलों को पत्तों से बने 'दोने' में रखकर घाट पर इधर-उधर घूमकर श्रद्धालुओं को दस-दस और बीस-बीस रुपये में बेचने के लिए भी उन्हें पुलिस वगैरह को खुश रखना पड़ता है।

फिर भी कई बार संदिग्ध करार देकर उनको वहां घूमने से रोक दिया जाता है। तिस पर महीने भर में इतनी आमदनी भी नहीं होती कि उनकी नियति बदल सके। बात चल जाए तो उनकी निराशा इस प्रश्न में बदल जाती है कि क्या मेरी यह मांग बहुत बड़ी थी कि नया घाट पर कहीं मुझको इतनी जगह दे दी जाए, जहां एक चौकी रखकर उस पर फूल बेच सकूं?

उनके पति सूरज दिहाड़ी मजदूरी भी करते हैं, गोताखोरी भी और नाव भी चलाते हैं। फिर भी परिवार की ठीक से गुजर-बसर नहीं हो पाती। प्रशासन उन पर 'बहुत' कृपालु हुआ तो कोई नौकरी या काम दिलाने के बजाय उनको नाव खरीदने के लिए दो लाख अस्सी हजार रूपयों का कर्ज दिला दिया। अब उस कर्ज की अदायगी भी उन पर भारी पड़ रही है और बैंक से बार-बार अदायगी के लिए फोन आते रहते हैं। लेकिन नाव के धंधे में कोई कमाई ही नहीं रह गई है और क्रूज एवं मोटरबोट के मुकाबले उसमें कोई भविष्य ही नहीं रह गया है।

उनके अनुसार, गोताखोरी सरयू में आकस्मिकताओं के वक्त किसी डूबते को बचाने, किसी का डूबा हुआ कुछ ढूंढ़ने या श्रद्धालुओं के फेंके सिक्के निकालने भर के काम काम आती है, जबकि श्रद्धालुओं द्वारा सरयू में फेंके गए सिक्के निकालने के काम में हासिल सिक्कों को 'फिफ्टी-फिफ्टी' करने की 'मजबूरी' होती है और मेलों के दिनों में एक चौथाई पर ही संतोष करना पड़ता है। अलबत्ता, अन्य दिनों में जितने सिक्के सात-आठ घंटों की गोताखोरी में मिलते हैं, मेलों के दौरान दो घंटों से भी कम में मिल जाते हैं। लेकिन जाड़ों में यह काम करने से लाभ के बजाय हानि ही होती है क्योंकि नदी के पानी में कई-कई घंटे तक रहने पर बीमारी पकड़ लेती है और जितने सिक्के हाथ नहीं आते, उनका कई गुना इलाज में खर्च करना पड़ता है।

वह कहते हैं कि अब तो समझ में ही नहीं आता कि कहां जाऊं और किससे मदद मांगूं, जब प्रधानमंत्री का हमारे घर आना भी हमारे कुछ काम नहीं आया। उल्टे हमारी हालत और खराब हो गई और बच्चों के भरण-पोषण के लाले पड़ गए। हमने तो कल्पना भी नहीं की थी कि राजा (प्रधानमंत्री) अपनी किसी प्रजा के (मेरे) घर चाय पीने आएंगे, फिर भी उसकी (मेरी) हालत जस की तस रह जाएगी। उसमें कोई सुधार ही नहीं होगा। ■

आखिर छपे हुए शब्दों का महत्व क्या है?

छपे शब्द दर्ज करते हैं कि हमने अपने समय को कैसे देखा, कैसे समझा, और उसके प्रति क्या रुख अपनाया

शैलेन्द्र चौहान

सामाजिक–राजनीतिक विषयों पर लिखते हुए जब मेरे लेख और टिप्पणियां किसी समाचार पत्र में प्रकाशित होती हैं, और विशेषकर तब जब उसके साथ मेरा मोबाइल नंबर भी प्रकाशित होता है, तो पाठकों की सीधी प्रतिक्रिया के रूप में आने वाले फोन कॉल्स मुझे अलग तरह के सामाजिक संवाद में ले जाते हैं। यह संवाद एकतरफा नहीं होता। यह जीवंत होता है, बहस करता है, असहमति दर्ज करता है, सहमति से ऊर्जा देता है, और कई बार ऐसे प्रश्न खड़े करता है जिनसे स्वयं लेखक का आत्ममंथन भी गहरा होता है।

यह अनुभव मुझे बार-बार इस बुनियादी प्रश्न की ओर लौटाता है कि आखिर छपे हुए शब्दों का महत्व क्या है? ऐसा क्या है उन शब्दों में, जो उन्हें इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के शोर और सोशल मीडिया के तीव्र, क्षणभंगुर प्रवाह से अलग और विशिष्ट बनाता है?

दरअसल, छपे हुए शब्दों के भीतर एक प्रकार की स्थायित्व-चेतना निहित होती है। वे क्षणिक नहीं होते, न ही केवल प्रतिक्रिया की तत्क्षणिक उत्तेजना में पैदा होते हैं। उनके पीछे विचार का अनुशासन, भाषा का संयम, और सत्य के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता काम करती है। यही कारण है कि पाठक लिखे हुए शब्दों को अक्सर 'सच' के अधिक निकट मानते हैं। यह विश्वास अकारण नहीं है। यह उस दीर्घ परंपरा का परिणाम है जिसमें शब्द केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व का वहनकर्ता भी रहे हैं।

जब कोई पाठक किसी लेख को पढ़कर अपनी समस्या साझा करता है, मार्गदर्शन चाहता है, या किसी मुद्दे पर अपनी सहमति–असहमति व्यक्त करता है, तब यह केवल लेखक के लिए संतोष का विषय नहीं होता, बल्कि यह उस भरोसे की पुष्टि भी होती है जो समाज ने शब्दों पर, और उनके माध्यम से लेखक पर रखा है। विशेषकर जब महिला, दलित, वंचित और हाशिये के समुदायों से जुड़े मुद्दों पर प्रतिक्रियाएं आती हैं, तब यह स्पष्ट होता है कि छपे हुए शब्द अभी भी उन आवाजों के लिए एक मंच हैं, जिन्हें अक्सर मुख्यधारा के विमर्श में जगह नहीं मिलती।

हालांकि, यह भी उतना ही सत्य है कि पिछले एक दशक में मीडिया का स्वरूप तेजी से बदला है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के तीव्र विस्तार और सोशल मीडिया प्लेटफार्मों के विस्फोट ने सूचना के प्रवाह को अभूतपूर्व गति दी है। कोरोना महामारी के बाद तो यह प्रवृत्ति और भी तीव्र हुई। लोगों का झुकाव डिजिटल माध्यमों की ओर बढ़ा, और अखबारों की प्रसार संख्या पर इसका प्रभाव पड़ा। लेकिन इसके बावजूद, प्रिंट मीडिया की प्रासंगिकता समाप्त नहीं हुई है; बल्कि कई मायनों में वह और अधिक महत्वपूर्ण हो गई है।

क्योंकि जहां इलेक्ट्रॉनिक और सोशल मीडिया अक्सर 'तत्काल' पर केन्द्रित होती हैं, वहीं प्रिंट मीडिया 'महत्वपूर्ण' पर। जहां वहां शोर है, यहां विचार है। जहां वहां दृश्यात्मक उत्तेजना है, यहां बौद्धिक संलग्नता है। यही अंतर छपे हुए शब्दों को आज भी विशिष्ट बनाता है।

फिर भी, यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि प्रिंट मीडिया पूरी तरह निर्दोष या आदर्श स्थिति में है। आज के समय में मीडिया—विशेषकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर बाजार का गहरा प्रभाव है।

> जब छपे हुए शब्दों की बात करते हैं, तो हमें केवल उनके वर्तमान प्रभाव को नहीं, बल्कि उनके दीर्घकालिक महत्व को भी समझना चाहिए। वे केवल आज के पाठक के लिए नहीं, बल्कि कल के इतिहासकार के लिए भी महत्वपूर्ण हैं

खबरें अब केवल सूचना नहीं रहीं। वे 'उत्पाद' बन चुकी हैं। उनका चयन, प्रस्तुति और प्रसार—सब कुछ इस बात से तय होता है कि वे कितनी 'बिकाऊ' हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी, विस्थापन जैसे बुनियादी मुद्दे मीडिया की प्राथमिकताओं से लगातार बाहर होते जा रहे हैं।

इस परिदृश्य में यह प्रश्न और भी तीखा हो उठता है कि मीडिया की भूमिका क्या होनी चाहिए? क्या वह केवल बाजार की मांगों का अनुसरण करे, या समाज के प्रति अपनी नैतिक जिम्मेदारी निभाए?

विडंबना यह है कि लोकतंत्र की संरचना के भीतर भी सत्ता का चरित्र कई बार सामंती हो जाता है। जनता अपने मत से प्रतिनिधियों को चुनती है, लेकिन वे प्रतिनिधि स्वयं को 'शासक' समझने लगते हैं। सत्ता, पूंजी और मीडिया के बीच एक ऐसी जुगलबंदी बनती है जिसमें आम आदमी की आवाज अक्सर दब जाती है। ऐसे में 'चारण-परंपरा' के नए रूप सामने आते हैं। वे लोग जो सत्ता के गुणगान में अपनी ऊर्जा खर्च करते हैं, और आलोचनात्मक विवेक को त्याग देते हैं।

यह स्थिति केवल राजनीति तक सीमित नहीं है। यह मीडिया और बौद्धिक वर्गों में भी दिखाई देती है। जब पत्रकारिता मिशन से हटकर केवल व्यवसाय बन जाती है, तो उसका चरित्र भी बदल जाता है। वह जनपक्षधरता की जगह 'प्रायोजित विमर्श' का हिस्सा बन जाती है।

ऐसे समय में छपे हुए शब्दों की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। उन्हें केवल सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि प्रतिरोध का साधन बनना होगा। उन्हें सत्ता से प्रश्न पूछने होंगे, समाज की विसंगतियों को उजागर करना होगा, और उन आवाजों को सामने लाना होगा जो हाशिये पर हैं।

यदि हम इतिहास की ओर देखें, तो पाएंगे कि हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य का संबंध हमेशा गहरा और जीवंत रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के पत्रकारों—जैसे बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त ने भाषा, शैली और विचार के स्तर पर जिस परंपरा की नींव रखी, उसने आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उस समय हिन्दी को न केवल अंग्रेजी, बल्कि उर्दू के प्रभाव के बीच अपनी जगह बनानी थी। पाठक-वर्ग सीमित था, संसाधन कम थे, लेकिन प्रतिबद्धता गहरी थी।

क्या मीडिया समाज को जागरूक और संवेदनशील बना रहा है, या केवल उपभोगवाद को बढ़ा रहा है?

धीरे-धीरे यह परंपरा विकसित हुई और बीसवीं शताब्दी में हमें ऐसे पत्रकार मिले जिन्होंने पत्रकारिता को केवल पेशा नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व के रूप में देखा। उन्होंने लेखन को जनजागरण का माध्यम बनाया, और अपने समय की चुनौतियों का सामना किया।

आज जब हम इक्कीसवीं शताब्दी में खड़े हैं, तो यह प्रश्न हमारे सामने है कि क्या हम उस परंपरा को आगे बढ़ा पा रहे हैं? क्या आज का मीडिया समाज को शिक्षित, जागरूक और संवेदनशील बनाने का कार्य कर रहा है, या वह केवल उपभोग की संस्कृति को बढ़ावा दे रहा है?

सच यह है कि मीडिया का एक बड़ा हिस्सा आज बाजार और सत्ता के दबाव में काम कर रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि विकल्प समाप्त हो गए हैं। अभी भी ऐसे पत्रकार, लेखक और मीडियाकर्मी हैं जो जनपक्षधरता को अपनी प्राथमिकता मानते हैं। उनकी संख्या भले कम हो, लेकिन उनका महत्व कम नहीं है।

एक लेखक के रूप में मैं स्वयं को पेशेवर पत्रकार नहीं मानता, लेकिन यह अवश्य मानता हूं कि एक जागरूक लेखक का दायित्व केवल साहित्य रचना तक सीमित नहीं है। उसे समाज की विसंगतियों, अन्याय, शोषण और दमन के खिलाफ अपनी आवाज उठानी चाहिए। साहित्य और पत्रकारिता के बीच यह जो सेतु है, वही छपे हुए शब्दों की असली शक्ति है।

छपे हुए शब्द केवल कागज पर स्याही नहीं होते। वे समय के दस्तावेज और इतिहास के साक्षी होते हैं। आने वाली पीढ़ियों के लिए यह दर्ज करते हैं कि हमने अपने समय को कैसे देखा, कैसे समझा, और उसके प्रति क्या रुख अपनाया।

इसीलिए, जब हम छपे हुए शब्दों की बात करते हैं, तो हमें केवल उनके वर्तमान प्रभाव को नहीं, बल्कि उनके दीर्घकालिक महत्व को भी समझना चाहिए। वे केवल आज के पाठक के लिए नहीं, बल्कि कल के इतिहासकार के लिए भी महत्वपूर्ण हैं।

अतः यह कहना उचित होगा कि चाहे माध्यम कोई भी हो—प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक या डिजिटल—मूल प्रश्न विश्वसनीयता, संवेदनशीलता और प्रतिबद्धता का है। यदि ये गुण मौजूद हैं, तो शब्द प्रभावी होंगे। यदि नहीं, तो वे केवल शोर बनकर रह जाएंगे।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम छपे हुए शब्दों की उस गरिमा को पुनर्स्थापित करें, जो उन्हें समाज का नैतिक दर्पण बनाती है। हमें ऐसे लेखकों और पत्रकारों की जरूरत है जो निर्भीक हों, ईमानदार हों और जनपक्षधर हों। जो सत्ता से सवाल पूछ सकें, और समाज के सबसे कमजोर वर्ग के साथ खड़े हो सकें। ऐसा इसलिए क्योंकि अंततः शब्द ही हैं जो इतिहास को दिशा देते हैं और छपे हुए शब्द, उस दिशा को स्थायित्व प्रदान करते हैं। ■

संडे नवजीवन
रविवार, 17 मई, 2026 | www.navjivanindia.com
Published Date 17 May, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद

'एक जनपद, एक उत्पाद' के नतीजों से वाकिफ़ हैं तो फिर राम चिड़िया, राम के खेत...गुनगुनाइए। सोशल मीडिया के हल्ले में कुछ नहीं धरा

प्रभात सिंह

प्रयागराज में लोकनाथ की मिठाइयों और हरी राम एंड सन्स के समोसे का जवाब नहीं

दिल्ली में एक आत्मीय के घर खाना खाने गया। मेज़ पर जो थाली थी, उसमें कई मारवाड़ी व्यंजनों के साथ एक कटोरी में लौकी के लच्छे भी परोसे गए थे। जिज्ञासावश पूछ लिया, कहां से मंगाए हैं। उन्होंने बताया कि इलाहाबाद से, मातादीन के यहां के हैं। दिल्ली में ऐसे स्वाद वाली मिठाई कहां मयस्सर! और ये परसाई वाले मातादीन नहीं हैं, न ही प्रयागराज के। उनके यहां का घेवर, घिया के लच्छे और गजक का ज़ाइक़ा ज़माने से इलाहाबादियों की ज़बान पर चढ़ा आया है, शहर तो ख़ैर अब जाकर प्रयागराज हुआ है। लोकनाथ में उनके ठिकाने पर मिठाई बांधने के लिए अब भी अख़बारी काग़ज़ और सूत की डोरी ही इस्तेमाल होती है। उस शाम का ज़िक्र इसलिए कर रहा हूं कि अगले ही रोज़ के अख़बारों में पढ़ने को मिला कि यूपी सरकार ने देसी ज़ाइक़ों को बढ़ावा देने की हिकमत में 'एक जनपद एक व्यंजन' योजना की एक फ़ेहरिस्त जारी की है, जिसमें 208 व्यंजन शामिल हैं। इस ख़बर में चकराने वाली एक बात तो यही थी कि सूबे में ज़िले तो 75 ही हैं, एक व्यंजन के हिसाब 75 ज़ाइक़े होने चाहिए थे। मगर आप तो जानते ही हैं कि मुसाहिबों की जमात जो न करे, थोड़ा है।

पर सोशल मीडिया के स्वयंसेवकों की भृकुटि तन गई। इस फ़ेहरिस्त में कबाब-बिरयानी वगैरह का ज़िक्र नहीं होने पर ग़दर मच गया। आत्मविश्वास के समंदर में गोते लगाने वाली इस जमात की मुश्किल यह है कि बसें नहीं पढ़ते। जो लोग यूपी की सरकारी बसें पढ़ते आए हैं, उन्हें मालूम ही होगा कि एक ज़माने में 'तू सच्चा तेरा नाम सच्चा' के मंत्र से सजी रहने वाली बसों का नया प्रेरक सूत्र है—'पशु पर दया करो'। हंगामे की होड़ में शहर-ए-लखनऊ को यूनेस्को से मिला तमग़ा भूल ही गए, जो गलावट के कबाब से लेकर शीरमाल तक सबका ज़ाइक़ा तस्लीम करता है। अब ऐसे तो इस लिस्ट में साहूकारे का आलू-स्वाल ही नहीं है, अफ़ीमची के छोले नहीं हैं, प्रयाग वाले देहाती का जबर-जबर रसगुल्ला (इसे गुलाब जामुन पढ़ें) नहीं है, फ़ैज़ाबाद का फरा नहीं है, पांडेपुर वाले सरदारजी की लौंगलता नहीं है, रामपुरी गुलत्थी नहीं है, संडीला और ठग्गू के लड्डू भी नहीं हैं, तो क्या समझा जाए! होने को तो बहुत कुछ नहीं है।

तो सोशल मीडिया के अखाड़े में बहस-मुबाहिसा इस फ़ेहरिस्त पर होता तो समझ में भी आता, जो इसमें नहीं है, उस पर बहस क्यों करना! और जो उनकी समझ में सचमुच कुछ भी आया होता तो भला चित्रकूट का मावा, रायबरेली के मसाले और ग़ाज़ियाबाद का सोया चाप इस लिस्ट में होते! समझ पाते तो हर ज़िले के किसी एक व्यंजन का नाम लेते (मने 'किसी एक फूल का नाम लो' टाइप) या फिर इस योजना को 'एक ज़िला, व्यंजन तमाम' नाम दिया होता। अरे, लिस्ट तो अपने मुंशी जी बनाते थे, पूरे भरोसे के साथ। मार्च 1920 में 'स्वदेश' में छपी उनकी कहानी 'मनुष्य का परम धर्म' पढ़कर देखिए, जिसमें पेटू-शिरोमणि मोटेराम शास्त्री से उन्होंने कहलाया है, "मेरा अपना विचार है यदि आपके थाल में जौनपुर की इमरतियां, आगरे के मोतीचूर, मथुरा के पेड़े, बनारस की कलाकन्द, लखनऊ के रसगुल्ले, अयोध्या के गुलाब जामुन और दिल्ली का सोहन हलुआ हो तो वह ईश्वरभोग के योग्य है। देवतागण उस पर मुग्ध हो जाएंगे।" ख़ालिस एक ज़िला एक व्यंजन का बखान। ऐसे ही थाल के बारे में परसाई बता गए हैं, "अच्छा भोजन करने के बाद मैं अक्सर मानवतावादी हो जाता हूं।" इस लिहाज़ से आप चाहें तो ताज़ा सूची को मानवतावाद की मुहिम भी मान सकते हैं।

मुंशी जी के ज़माने में 'नमक के दरोगा' होते थे, एफ़डीए नहीं, इसीलिए एक सांस में मावे की इतनी मिठाइयों के नाम गिना गए. अब तो हाल यह है कि होली-दिवाली के आस-पास सक्रिय एफ़डीए वाले कई-कई क्विंटल मावा और पनीर रोज़ बुलडोज़र तले दबा डालते हैं, मिठाइयों की दुकानों पर छापे मार रहे होते हैं, समोसे के सैंपिल भर रहे

> सरकारी लिस्ट में ठग्गू लिखना शायद मुसाहिबों को रास न आया होगा। बन-मक्खन कभी खाया न होगा तो फ़ूड ब्लॉगर्स पर एतबार करके कानपुर के आगे समोसा लिख मारा। अमां, समोसे के नाम पर जो शै मक़बूल है, वह तो इलाहाबादी समोसा है

होते हैं, कहीं घी नक़ली तो कहीं तेल। इधर तो एफ़डीए वाले सहालग के दिनों में भी मसरूफ़ रहने लगे हैं। मगर ज़बान के मारों को इसकी फ़िक्र इसलिए नहीं होती कि इन नमूनों की रिपोर्ट ही अगले साल तक मयस्सर होती है। तो मुझे लगता है कि मक्खन मलाई, दही-जलेबी या सिंघाड़ा कचरी की मार्केटिंग के मसले पर बहुत सिर खपाने से अच्छा है कि उन ज़ाइक़ों के बारे में बात की जाए जो सर-ए-फ़ेहरिस्त हैं।

इस सरकारी लिस्ट में ठग्गू लिखना शायद मुसाहिबों को रास न आया होगा, बन-मक्खन कभी खाया न होगा तो फ़ूड व्लॉगर्स पर एतबार करके कानपुर के आगे समोसा लिख मारा। अमां, समोसे के नाम पर जो शै मक़बूल है, वह तो इलाहाबादी समोसा है, वरना हर शहर के हर मोहल्ले में एकाध हलवाई ऐसा ज़रूर निकल आएगा, क़द्रदानों के बीच जिसके समोसे की तूती बोलती होगी। जिसने बरेली में कुमार टाकीज़ या फिर पूरन हलवाई के, तिलहर में अमन और झूसी में बाबा के समोसे कभी न खाए हों, ऐसी चूक वही कर सकता है। फतेहपुर की बेड़मी अभी तक न चख पाने का गुनाहगार हूं, मगर बांदा में खाई है न! हाथरस में, वृंदावन में, मथुरा और आगरा में भी खाई है। यह ब्रज के इलाक़े का पसंदीदा नाश्ता है और बांदा में बासु हलवाई के यहां हूबहू बृज जैसा ही स्वाद पाया था। इसकी वजह यह कि वह वृंदावन से दो कारीगर बुला लाए थे। हैरत नहीं कि फतेहपुर में भी किसी ने ऐसा ही किया हो। अभी तक तो मल्लावां के पेड़ों से ही फतेहपुर को पहचानता आया था। बांदा में बोड़े राम हलवाई के सोहन हलवे का क़ायल ज़रूर हूं। और मैं क्या, ज़माना क़ायल है।

अलीगढ़ के साथ कचौड़ी और इमरती का नाम दर्ज देखा, सो सोचा लगे हाथ यह भी बताता चलूं कि वो जो रायता फैलाने वाली लोकोक्ति है न, उसकी ईजाद का अलीगढ़ की इस कचौड़ी से कोई वास्ता ज़रूर है। मैदे की एकदम ठोस थपुआ जैसी चीज़, न नज़ाकत, न भरावन... जाने क्यों उसे कचौड़ी कहते हैं, के साथ जो सब्ज़ी परोसी जाती है, उसकी तासीर यह है कि खाने वाले के कान से धुआं निकलने लगे और सब्ज़ी के साथ मिलने वाला रायता उस धुएं पर छींटे मारने के काम आता है। प्लास्टिक के महीन गिलास में मिलने वाला दुबला-पतला रायता कई बार गिलास टेढा-मेढा होते ही फैल ही जाता है। इमरती अलीगढ़ी के मशहूर होने की ख़बर अभी लगी। ख़ालिद भाई अपने तजुर्बे से बताते हैं कि कबाब की दुकान के आसपास मिठाई की कोई दुकान ज़रूर दिखाई दे जाती है। हो सकता है कि लिस्ट बनाने वाले भी इस टोटके से वाकिफ़ हों।

कुशीनगर वालों ने केले हाल में ही उगाने शुरू किए हैं, केले के चिप्स कब उनकी पहचान बन गए, ज़माने को ख़बर ही नहीं हुई। गोरखपुर में कोई लिट्टी-चोखा या समोसा मशहूर है, यह तो लिट्टी-मटन के शौक़ीन गोरखपुरी भी शायद न मानें. वैसे भी, वे तो धर्मशाला पुल के क़रीब मिलने वाली इमरती, चौरीचौरा के लहसुन वाले छोले और शहर भर में मिलने वाले सत्तू के शर्बत पर ही फ़िदा हैं। नाम दर्ज करने से पहले मुसाहिबों या उनके कारकूनों ने कन्नौज और जौनपुर के गट्टे चखकर भी देख लिए होते और अपनी ज़बान को ही भरोसे लायक़ मान लेते तो लिस्ट की सूरत कुछ और होती। वैसे आपको लगता है कि आगरे का पेठा, बनारस के पान, पिंडरा का गुलाब जामुन, मेरठ की गजक-रेवड़ी, हापुड़ के पापड़, हाथरस की रबड़ी, प्रतापगढ़ के आंवले, बलिया के सत्तू, फ़र्रुख़ाबाद की दालमोठ, रामपुर के हब्शी हलवे, जौनपुर की इमरती, तिलहर की लौंज या बदायूं के पेड़े को मक़बूल होने के लिए सरकारी इमदाद की ज़रूरत है? तमाम शहरों के ख़ास ज़ाइक़े को लोक ने पहले से ही मक़बूल बना रखा है। आप ललितपुर के नाम बाजरे की रोटी दर्ज कर लो, मगर सालन क्या होगा, यह तो लोक ही तय करेगा न!

आप अगर 'एक ज़िला, एक उत्पाद' के नतीजों से वाकिफ़ हैं तो फिर राम चिड़िया, राम के खेत...गुनगुनाइए, सोशल मीडिया के इस हल्ले में कुछ नहीं धरा है। ■

'रेवड़ी' वाले शहर में बहुत बड़ी है ज़ायक़ों की दुनिया

इस 'संस्कारी' प्रोजेक्ट में जो मिटाया जा रहा है, वह है मांसाहारी समुदायों का भोजन और उनके इर्द-गिर्द बनी अर्थव्यवस्था

सबीका अब्बास

जब भी मैं बाहर होती और किसी को बताती कि मैं किस शहर से हूं, तो सामने वाले की प्रतिक्रिया लगभग तयशुदा होती। कोई कबाब, निहारी, बिरयानी की बातें छेड़ देता, या फिर 'हम' बोलने की मेरी आदत और मेरे तलफ़्फ़ुज़ पर मुस्कुराने लगता। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी ने 'लखनऊ' का नाम सुनकर 'रेवड़ी' की बात की हो किसी ने नहीं।

मग़रिब (अरबी में सूर्यास्त) के बाद पुराने लखनऊ के तंदूरों और ग्रिल्स से उठने वाली ख़ुशबू उन तीन वजहों में से एक रही, जो मुझे यहां वापस खींच लाई। छोटे-छोटे होटलों के आस-पास भी अच्छा खासा जमावड़ा रहता है- जहां लोग रहीम की निहारी, मुबीन के पसंदे, इदरीस की बिरयानी या टुंडे कबाब के लिए, एक-दूसरे से चिपककर खड़े, आपस में टकराते हुए भी कबाब की उस प्लेट का इंतज़ार करते हैं, जो होते ही इतने मुलायम हैं कि मुंह में रखते ही घुलकर कहीं गुम जाते हैं, बस ज़ायक़ा रह जाता है। ठीक वैसे ही जैसे आपके दक्षिणपंथी पिताजी के सामने आपके थोड़े उदार राजनीतिक विचार घुल जाते हैं।

मैं बड़े फक्र से लोगों को बताती रही कि लखनऊ में कबाब की चालीस से भी ज़्यादा किस्में हैं, और यही वह अवधी व्यंजन है जिसने वाक़ई हमें दुनिया के नक्शे पर एक खास पहचान दिलाई है। गलावटी कबाब तो इतने मुलायम कि, बताते हैं इन्हें खास तौर पर एक ऐसे नवाब के लिए बनाया गया था जिनके दांत नहीं थे। धागे के कबाब तो ऐसे जिन्हें इतनी नज़ाकत के साथ धागे से बांधते हैं, ताकि पकने से पहले गोश्त बिखर न जाए। शामी कबाब और उन पर होने वाली उस बहस का तो सिरा ही नहीं कि इन्हें कितना कुरकुरा होना चाहिए। नरगिसी कबाब, पसंदे, कोफ्ते, काकोरी कबाब, मजलिसी कबाबऔर तो और, लौकी के कबाब भी।

यह तो सिर्फ़ कबाब हैं अभी मैंने सर्दियों की धुंध के बाद निहारी-कुलचा वाले नाश्ते, रात भर धीमी आंच पर पकने वाला पाया, खास मौक़ों वाले भेजा फ्राई, यखनी पुलाव या फिर घर पर बने अदरकी गोश्त, मेथी मछली का सालन या गोश्त के अचार की तो बात ही नहीं छेड़ी। यह चर्चा ज़रूरी इसलिए, क्योंकि उत्तर प्रदेश सरकार की एक लिस्ट देखकर लगा, मानो पूरा यूपी महज शाकाहारी नाश्ते पर ही ज़िंदा है। मैं मना रही हूं कि काश यह लिस्ट मेरी लखनवी दोस्तों- तूलिका, माधवी या शबनम आपा तक न पहुंचे; क्योंकि अगर उन्हें मालूम चला कि लखनऊ के मशहूर खान-पान की किसी लिस्ट में महज रेवड़ी, आम और चाट को जगह मिली है, वे तो बिना वक्त गंवाए विरोध-प्रदर्शन ही शुरू कर देंगी।

लेकिन ठहरिए, मुझे रेवड़ी से कोई दिक्कत नहीं। उन छोटी-छोटी गुड़-चीनी और तिल वाली टिकियों से मुझे भला क्या परेशानी हो सकती है, जो सर्दियों में हर गली-बजार में खूब बिकती हैं? मुझे पसंद भी हैं। मैं 'आम से बनी चीज़ों' की भी बहुत बड़ी दीवानी हूं। और अगर ज़रूरत पड़ी, तो लखनऊ के चौसा आमों की शान की हिफ़ाज़त के लिए खुद मैदान में उतर जाऊंगी। तो, बात सिर्फ़ इतनी नहीं है कि लिस्ट में कबाबों का न होना मैंने निजी तौर पर ले लिया है। या शायद हो भी!

क्योंकि यूपी की 'एक जनपद एक व्यंजन' लिस्ट से कबाब का लापता होना अजीब (और खतरनाक) बात है। मंत्रियों की मानें तो सूबे के सभी 75 ज़िलों में इसके लिए ज़िलाधिकारियों की अध्यक्षता में कमेटियां बनीं। शिक्षकों, प्रोफेसरों, स्थानीय विशेषज्ञों से मशविरा हुआ। सर्वे किए गए। फाइलें चलीं। बैठकें हुईं। चाय के दौर चले।

अब कोई कैसे यक़ीन करे? कि विशेषज्ञों की एक पूरी कमेटी तय करने बैठी कि ऐतिहासिक लखनऊ को अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व होना चाहिए और इस क्रांतिकारी नतीजे पर पहुंची कि वह शहर जो दुनिया भर में अवधी मांसाहारी व्यंजनों के लिए जाना जाता है, उसे अब से ऐसा दिखावा करना चाहिए मानो कबाब नाम की चीज़ का कोई अस्तित्व ही न हो और, या कि उन्हें पैक करके भी बेचा जा सकता है जो समुदायों के लिए मुनाफ़े का सौदा हो सकता है।

यानी सरकार हमें यह मानने को कह रही है कि महज शाकाहारी चीजें ही लघु एवं मध्यम उद्यमों के हित साध सकती हैं। क्या वाक़ई? पूरे लखनऊ जिले में? वह लखनऊ जिसने मलाई मक्खन जैसी नाजुक मिठाई को भी पैक करने की महारत हासिल कर चुका है, जो महज तीन मिनट धूप में रखने पर लगभग गायब ही हो जाती है। नमालूम कैसे, वह इस सूची में है।

मैं मलाई-मक्खन की बड़ी फ़ैन हूं। लेकिन, किसी भी नई नीति में दिखने वाले 'भगवा रंग' को तो नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। और 'भगवा' से मेरा मतलब उस ज़ाफ़रान से नहीं है, जिसे हम बड़े प्यार से अपनी बिरयानी पर डालते हैं। उस भगवा रंग से है, जो हमारी क़ानूनी और नीति-संबंधी प्रक्रियाओं पर छाया है।

सरकार कहती है कि खाने से मांसाहार को 'जान-बूझकर' नहीं हटाया गया है। यह बात सच से उतनी ही दूर है, जितना मलाई-मक्खन 'बोटी कबाब' से। कड़वा सच तो यही है कि सरकार द्वारा चलाया जा रहा यह 'सांस्कृतिक और खान-पान की शुद्धि' का अभियान, हम सब पर 'सवर्ण उच्च-जाति' वाली शाकाहारी सोच थोपने का एक तरीक़ा है।

वे भोजन का इस्तेमाल शिनाख्त, स्मृतियों, राष्ट्रवाद और सत्ता को आकार देने के लिए कर रहे हैं। राज्य तय करता है कि किसका खान-पान 'विरासत' बनेगा, किसे सब्सिडी और ब्रांडिंग का समर्थन मिलेगा, और किसका भोजन सरकारी यादों से मिटा दिया जाएगा।

यह 'नवाबी' दौर की अनोखी यादों की बात भी नहीं है। लखनऊ की खान-पान की संस्कृति छोटी छोटी दुकानों में ज़िंदा है- तंग गलियों में छिपी दुकानों में, सर्दियों की सुबह नाश्ते में खाई जाने वाली निहारी में, ठेलों पर भुनती कलेजी में, कायस्थ परिवारों की रसोई में जो 'खड़े मसाले के गोश्त' के लिए जाने जाते हैं, ईद की उन दावतों में जहां दूसरी रोटी आने से पहले ही शामी कबाब चट हो जाते हैं, और उस 'पाया' में जो सूरज उगने से पहले काम पर निकलते मज़दूरों के लिए पूरी रात धीमी आंच पर पकते हैं।

*

इस 'संस्कारी' प्रोजेक्ट में जो मिटाया जा रहा है, वह है मांसाहारी समुदायों का भोजन और उनके इर्द-गिर्द बनी अर्थव्यवस्थाएं। मुस्लिम खान-पान की परंपराएं बाहर! दलित खान-पान की परंपराएं बाहर! और उनके रसोईघर, सड़क किनारे के स्टॉल, कसाई, पीढ़ियों से व्यंजनों को

> कड़वा सच तो यही है कि सरकार द्वारा चलाया जा रहा यह 'सांस्कृतिक और खान-पान की शुद्धि' का अभियान, हम सब पर 'सवर्ण उच्च-जाति' वाली शाकाहारी सोच थोपने का एक तरीक़ा है

फोटो: गेटी इमेजेज

टुंडे कबाब गलावटी कबाब; (नीचे) इदरीस की बिरयानी, मुबीन के पसंदे, रहीम की निहारी

सहेजकर रखने वाली महिलाएं, और वे मेहनतकश जातियां जिनके व्यंजन उनकी जीवटता और अस्तित्व की लड़ाई से उभरे थे- इनमें से किसी भी चीज़ से हमारी 'एक ज़िला एक व्यंजन' की सूची 'दूषित' नहीं होनी चाहिए।

और उन्हें अपनी 'एकात्मक' कल्पनाओं से कितना प्यार है! 'एक ज़िला एक व्यंजन', 'एक राष्ट्र एक चुनाव', 'एक राष्ट्र एक टैक्स', 'एक राष्ट्र एक राशन कार्ड', 'एक राष्ट्र एक ग्रिड'... एक भाषा। एक संस्कृति। एक सर्वोच्च नेता। एक (राजनीतिक) पार्टी। नागपुर की रसोई में पके 'हिन्दू राष्ट्र' के उनके विचार में जो कुछ भी फिट नहीं, सब मिटा दो।

नहीं भूलना चाहिए कि व्यंजनों की यह सूची सीधे तौर पर सरकारी लाभ, सब्सिडी, पैकेजिंग सहायता, ब्रांडिंग और प्रचार से जुड़ी है। सवाल हैः इससे किन खाद्य उद्यमियों को लाभ मिलेगा? किनके श्रम को पहचान मिलेगी? किनके व्यंजन सरकार निवेश योग्य मानेगी?

सोचना ही अजीब है कि उत्तर प्रदेश, भारत में भैंस मांस के सबसे बड़े निर्यातकों में से एक रहा है। मतलब यह दुनिया भर को भैंसे का मांस निर्यात करने में पूरी तरह सहज है, और बूचड़खानों तथा मांस-प्रसंस्करण के बुनियादी ढांचे से करोड़ों कमा रहा है। यानी, एक पूरी तरह से पैक भैंसा तो किसी अंतरराष्ट्रीय मालवाहक जहाज़ पर चढ़ सकता है, लेकिन कबाब को किसी पर्यटन ब्रोशर में जगह नहीं मिलनी चाहिए!

हमें यूं ही बताया गया है कि 'ओडीओसी' की लिस्ट 'लचीली' है, और इसमें बाद में मुख्यमंत्री की मंज़ूरी से और चीज़ें जुड़ सकती हैं। क्या वह मेरे कबाबों को मंज़ूरी देंगे? मुझे तो उम्मीद नहीं है!

लेकिन, यह बात मेरे प्यारे कबाबों के बारे में नहीं है। मेरी नाराज़गी इसलिए, क्योंकि यह एक बहुत बड़ी राजनीतिक साज़िश का हिस्सा है- जिसमें खाने-पीने की चीज़ों, भाषाओं, संस्कृतियों, नामों, प्रेम-कहानियों और पूरे के पूरे इतिहास को ही मिटाने और नज़रअंदाज़ करने की कोशिश है!

यकीन है कि लखनऊ ज़िले की मैं अकेली इंसान नहीं, जो इस लिस्ट को लेकर गुस्से में है। तो, अन्य ज़िलों के दोस्तों, आप भी आवाज़ उठाएं! कैसे यकीन कर लूं कि आज़मगढ़ वाले इस से खुश होंगे कि उनकी नुमाइंदगी 'तहरी' कर रही है- और यह बात मैं एक ऐसे इंसान के तौर पर कह रही हूं जिसके लिए तहरी एक बेहद सुकून देने वाला, दिल को छूने वाला भोजन है। रामपुर, मेरे दोस्त, क्या तुम इस लिस्ट से खुश हो? और मुरादाबाद? बरेली? मेरठ? क्या तुम चुपचाप बैठे रहोगे, जबकि तुम्हारी आंखों के सामने ही तुम्हारे खाने के इतिहास को पूरी तरह से शाकाहारी बना दिया जाएगा?

फिलहाल तो, अगर कोई पूछे कि लखनऊ में उन्हें कौन सी चीज़ ज़रूर चखनी चाहिए, तो लगता है कि मुझे यही कहना पड़ेगाः "लीजिए, रेवड़ी नोश फ़रमाइए"।

लेकिन अब, अगर इजाज़त हो, तो मैं अपने मन को शांत करने के लिए कबाब की एक प्लेट लेना चाहूंगी। ■